

# आनन्द पुष्प



लेखक :

नन्दलाल शर्मा

## दो शब्द

दो यदि हों तो दो शब्द लिखना उचित किन्तु परिपाटी है पुस्तक प्रारम्भ के पूर्व दो शब्द लिखने की। कुछ लोग भूमिका से प्रारम्भ करते हैं। सब कुछ तो भूमि का ही है तथा भूमि पर ही छोड़ कर जाना पड़ता है। कुछ लोगों ने सप्त भूमिका की भी कल्पना की है। सप्त के स्थान पर यदि सत्य भूमि का प्रयोग करते तो कल्पना कल्पना न रहती, रहती उसमें सार्थकता।

पुस्तक में तेरह शीर्षक। शीश तेरा और चरण (तेरा) मेरा यही भावना है इस पुस्तक के प्रत्येक शब्द में। क्यों लिखी ? इसका उत्तर कौन दे ? आनन्द पुष्प हैं तेरह, जो तेरे ही हैं। पथ देखा, तरंग उठी, अब पुष्प अर्पित। जिसने पुष्प की सुगन्ध का आनन्द लिया वही आनन्दी, नहीं तो इस अन्धी दुनिया में अनेक पंथ, धर्म फैले और फैलते रहेंगे बुद्धि बल पर सुगन्ध कहाँ ? निष्कर्ष कहाँ, कर्ष ही कर्ष बढ़ा रहे हैं ये धर्मावलम्बी।

अवलम्ब यदि सत्य का है तो विवाद कहाँ ? अवतार वाद ने ऐसा तार बजाया कि वह साकार, निराकार में विवाद का हेतु बना।

बना था और बना है बनाने के लिये जीवन किन्तु विवाद क्यों, प्रतिवाद क्यों ?

मजहब तो महज रास्ता बताता है शांतिमय जीवन का। फिर ये फिरकेबाजी क्यों ?

ज्ञान और भक्ति में अन्तर कहाँ ? ज्ञान है तो भक्ति कर जीव की, शिव की। शिव में जीव, ज्ञान, जीव को शिव मान सेवा कर, भक्ति। अनोखी परिभाषा है ज्ञान, भक्ति की।

दो शब्द - ज्ञान और भक्ति। दो शब्द भगवान और भक्त। दो शब्द भला और बुरा, प्रकृति और पुरुष, नर और नारी। दो की दुनिया। प्रयास केवल इतना ही है कि दो दो न रहें, एक होकर, एक में समा जायें, यही सद्गुरु से प्रार्थना है।

\*\*\*

## वक्तव्य

सद्गुरु की भाव मन्दाकिनी कहीं प्रवचन रूप में, कहीं वाणी रूप में, कहीं लेख रूप में निरन्तर ही प्रवाहित होती रही एवं भक्त गण के मानस में भक्ति की धारा प्रवाहित कर उसे शाश्वत् शान्ति व आनन्द का पात्र बनाती रही। आनन्द-पुष्प उसी धारा के अन्तर्गत सद्गुरु के नितान्त मौलिक तेरह लेखों का संग्रह है, जो अपने आप में नितान्त अनूठा है।

पुस्तक का प्रथम संस्करण सन् - १९६८ में प्रकाशित हुआ था एवं द्वितीय संस्करण सन् - १९७४ में प्रकाशित हुआ। भक्तों की आवश्यकता है सद्गुरु की भाव राशि। अतः इस भाव राशि का तृतीय संस्करण भक्तों को सौंपते हुए हम उनके आभारी हैं, क्योंकि उन्हीं की प्रेरणा हमें इस मंगल कार्य में प्रेरित कर रही है।

## विषय सूची

	<b>क्रमशः</b>	<b>::</b>	<b>पृ.स.</b>
१.	काम तेरा नाम मेरा	::	०४
२.	कैसा भूल भुलैया	::	१४
३.	ये कलियाँ	::	२५
४.	क्या दूँ ?	::	३७
५.	तेरा सौरभ	::	४९
६.	प्राणी की प्रेरणा	::	६२
७.	धर्म है या शिष्टाचार	::	७१
८.	अनजाने अनमाने भगवान	::	८४
९.	आज तेरा साज या राज	::	९७
१०.	क्यों ?	::	१०९
११.	मन और तन	::	१२१
१२.	दिगम्बर तेरा रूप	::	१३४
१३.	मेरे साथी	::	१४८

## “काम तेरा नाम मेरा”

अज्ञात प्रदान, प्रत्यक्ष समर्पण। प्रदान अज्ञात में होता है जिसे अल्पज्ञ प्राणी समझ ही नहीं पाता। प्रदान एक समस्या है जब तक कि वह स्थूल रूप धारण न करे। प्रदाता अज्ञात है अज्ञेय नहीं।

सूक्ष्म और स्थूल दो अवस्था विशेष हैं। अवस्था में परिवर्तन हुआ। सूक्ष्म स्थूल हुआ, स्थूल सूक्ष्म हुआ। यह कार्य अनवरत होता चला आ रहा है। मनुष्य की बुद्धि ससीम है असीम नहीं। असीम अज्ञात, ससीम प्रत्यक्ष। प्रत्यक्ष का नाम, अप्रत्यक्ष का काम।

“काम तेरा नाम मेरा” यह कहनेवाले तो पाये जाते हैं, किन्तु समझ कर हृदयंगम करनेवाले तो अति अल्प हैं। निरर्थक वाद-विवाद को महत्त्व देनेवालों की संख्या दिन-प्रतिदिन वृद्धि पर है। अवतार वाद ने भ्रम की निवृत्ति की है या वृद्धि यह कहना कठिन है। मानव कृत धर्म ने मानव को शांति दी है या युद्ध की प्रवृत्ति यह कहना सरल है। **शांति क्षणिक, अशांति प्रत्येक क्षण।** अशान्त अवस्था में सूक्ष्म, स्थूल की गति को समझ पाना सरल नहीं। स्थूल प्राणी तथा वस्तुओं से घिरा हुआ प्राणी स्थूल को ही प्रधानता देता आया है, सूक्ष्म को नहीं। जिन्होंने सूक्ष्म के रहस्य को जाना उन्हें स्थूल वस्तु तथा प्राणी आकृष्ट न कर सके। अज्ञात प्रदाता उनके विचारों के समक्ष था। **प्रदाता की उपेक्षा प्राणों को व्याकुल करती रहती है मनुष्य समझता है कि उसे विशेष कार्य व्याकुल करते हैं।** यह भी एक रहस्य है जिसे यथार्थ रूप से समझना सरल नहीं।

कारण और कार्य का खेल कुछ प्रत्यक्ष कुछ अज्ञात। कार्य करता हुआ व्यक्ति जब सफल नहीं हो पाता, तब वह कारण खोजा करता है। असफलता के अनेक कारण हो सकते हैं तथा सफलता के भी। सफलता में मनुष्य कारण की ओर ध्यान नहीं देता अपनी दक्षता पर ही फूला नहीं समाता। वह कारण क्यों खोजने लगा ? सफलता ही उसका लक्ष्य था, वह प्राप्त हुई, अब कारण उसके लिये गौण हो जाता है। **सफलता का कारण उसकी दक्षता नहीं अज्ञात प्रदाता की कृपा है।** मनुष्य यदि अज्ञात प्रदाता की ओर ध्यान देता तो सम्भव है उसे रहस्य की कुछ बातें समझ में आती किन्तु ऐसा होता कहाँ है ? जहाँ होता है वहाँ कारण भी स्पष्ट हो जाता है। ये बातें पहली सम प्रतीत होती है किन्तु पहली ही यदि सहेली बन जाये तो पहली तो मनुष्य के ज्ञानवर्द्धन में सहायक होगी चिन्ता का कारण नहीं।

सफलता एकाग्रता चाहती है विकलता नहीं। मनुष्य की दुर्बलता, मानसिक दुर्बलता उसे एकाग्र नहीं होने देती। जहाँ एकाग्रता नहीं, वहाँ सफलता का दर्शन दुर्लभ। कारण और कार्य, अज्ञात और प्रत्यक्ष का समन्वय करना विचारक के लिये भी सरल नहीं, अन्य प्राणियों के लिये तो सर्वथा असम्भव है। अज्ञात जब प्रत्यक्ष होता है तब आश्चर्य का कारण बन जाता है। प्रथम बीज था कि फल ? यह प्रश्न मीमांसकों के लिये भी सरदर्द का कारण रहा है किन्तु यदि उनका अज्ञात प्रदाता से सम्पर्क रहा होता तो वे तथ्य से अवगत हुए होते। अज्ञात बीज है, प्रत्यक्ष फल है। प्रश्न हो सकता है बीज तो प्रत्यक्ष है, स्थूल है इसे अज्ञात कहना तो अज्ञानता है ? बीज प्रत्यक्ष है इसे अमान्य नहीं किया जाता, अज्ञात प्रदाता की शक्ति उसमें निहित है, वह अज्ञात है अतः उसे अज्ञात कहा गया है।

क्या फल के बीजों में वह शक्ति निहित नहीं ? है, किन्तु यदि इसे समझ लिया जाये तो एक से अनेक की बात स्पष्ट हो जाती है।

सीमित बुद्धि, तर्क प्रधान, वहाँ तथ्य बुद्धि के तराजू पर लटकती रहती है। जिस ओर का पलड़ा भारी उधर ही विजय, वहाँ तथ्य का क्या काम ? शास्त्रार्थ और बुद्धिबल का प्रयोग ही अनेक मतमतान्तरों का जनक बना। उनकी दृष्टि में तर्क से सिद्ध किया हुआ कथन ही प्रमाणिक है। स्वयं को ब्रह्म मानने तथा कहनेवाले भी तर्क की शरण में जाते हैं। बुद्धि में भ्रम का स्थान न बनाया जाये तो वह तर्क ही निरर्थक। वे कहते हैं यों ही क्या मान्यता को हम प्रधानता दें। हमें बुद्धि की कसौटी पर उसे कसना होगा, तर्क को न्यायसंगत (उदाहरण सहित) ठहराना होगा। धन्य है उनका ज्ञान तथा ज्ञान का अभिमान। परम्पराओं को प्रधानता देनेवाला व्यक्ति अंधभक्त ही कहलायेगा, सत्य का उपासक नहीं।

**सत्य का आंशिक रूप सत्य तो है, पूर्ण सत्य नहीं। पूर्णता अज्ञात में है, प्रत्यक्ष पूर्ण नहीं।** पूर्ण, अपूर्ण, अज्ञात, ज्ञात का विवेचन मानवीय बुद्धि के द्वारा किया जाना सदा भ्रमात्मक रहा है। महापुरुष की वाणी तथा कार्य साधारण जन से भिन्न रहते हैं किन्तु वे (वाणी तथा कार्य) पूर्ण हैं यह कहना अंधविश्वास है। पूर्णता की झलक सम्भव है, पूर्णता नहीं। पूर्णता अज्ञात शक्ति के प्रत्येक कार्य में है जिसे साधक, साधना तथा अज्ञात कृपा के बल पर ही जान सकता है केवल साधना के द्वारा ही नहीं।

**अज्ञात कृपा का काम, मानव कर्ता का नाम।** मानव प्रत्यक्ष है अज्ञात कृपा अप्रत्यक्ष। अनेक ग्रंथों का रचियता मानव या अज्ञात

कृपा ? यह उस कृपा की ही महिमा है कि अनेक झंझटों से ग्रसित मनुष्य यदा-कदा सुख-शान्ति का भी दर्शन कर पाता है। नामी व्यक्ति के अनेक विरोधी भी देखने में आते हैं किन्तु नामी व्याकुल नहीं होता उसे अनामी की (अज्ञात प्रदाता की) कृपा प्राप्त है। वह जानता है कि यह मेरा काम नहीं, जिसे देख ईर्ष्यालु निरर्थक जलते हैं, मेरा तो नाम मात्र है, काम तो उस महाशक्ति का है, जिसकी अद्भुत कृपा सम्पूर्ण विश्व का संचालन करती रहती है और अज्ञात बनी रहती है।

अभिमान का आवरण व्यक्ति को भ्रमित करता रहता है। वह सोचता है कि कर्ता तू या कोई अन्य। अन्य को यदि माने तो अभिमान के लिये स्थान कहाँ ? वह अपने को ही कर्ता मान बैठता है। ऐसा व्यक्ति कभी न कहेगा कि “काम तेरा, नाम मेरा”। यदि कह भी दे तो हृदय से मानेगा नहीं। यह अवस्था तो दयनीय है प्रशंसनीय नहीं। धन अज्ञात का, स्वामी बन बैठा यह अभिमानी प्राणी। शान्त नहीं हो पाता। सदा भय बना रहता है कि यह धन, नाम रहेगा या लुप्त हो जायेगा। यदि अपना ही होता तो भय क्यों होता ? भय का कारण स्पष्ट है जब तक प्रदाता को न माने न जाने तो भय रहना अवश्यम्भावी है।

काम और नाम के लिये प्राणी को जीवन मिला। काम का चक्र चलता रहता है। प्रत्येक क्षण काम हो रहा है। यह काम यदि शुभ हुआ तो नाम और यदि अशुभ तो बदनाम। शुभ सुखदायक, अशुभ कष्टदायक। विराट प्रकृति की गति के अनुकूल हुआ तो शुभ, यदि प्रतिकूल तो अशुभ। प्रकृति बाधक नहीं, मनुष्य की अज्ञता बाधक। मन की प्रकृति, बुद्धि की स्वीकृति। मन और बुद्धि में यदि सहयोग बना रहा तथा मन की



शुभ तथा उच्च अभिलाषा निरन्तर शरीर के द्वारा उचित काम करवाती रही तो जीवन सफल, विपरीत कार्य जीवन को असफल ही नहीं दुःखदायी बना देते हैं।

चंचल मन तथा भ्रमित बुद्धि ने ही मनुष्य को व्याकुल तथा संत्रस्त बना रखा है। जो व्यक्ति आने का कारण नहीं जानना चाहता, जाने की कल्पना से भयभीत होता है वह जीवन का क्या मर्म समझेगा ? ऐसे व्यक्ति के सम्मुख एक ही विचार सदा बना रहता है और वह विचार है शरीर रक्षा का। कैसे इसे खिलाऊँ, कैसे इसे सजाऊँ, कैसे दृढ़ बनाऊँ ? किसी प्रकार यह समस्या हल भी हो गई तो क्या वह व्यक्ति शान्त तथा प्रसन्न रह सका ? शायद नहीं। क्यों ? वस्तुओं की प्राप्ति ही समस्या हल नहीं कर पाती, विचारों के हल चलाने की आवश्यकता है। **वस्तुएँ परिवर्तनशील तथा विनाशी। विनाशी, विनाशी को कैसे सन्तोष दे सकेगा ? अविनाशी ही विनाशी का पथ-प्रदर्शन तथा शान्तिप्रदाता हो सकता है। यह काम अविनाशी का है कि विनाशी को अविनाशी बनाये।** मनुष्य को अविनाशी आत्मा दे रखी है उस अविनाशी ने किन्तु उस अविनाशी आत्मा की ओर कब ध्यान देता है मनुष्य ? जब-जब ध्यान देता है तो शान्ति भी प्राप्त करता है तथा प्रसन्नता भी। काम अविनाशी का तथा नाम विनाशी का। विनाशी को देखते हैं अविनाशी तो उनके लिये अज्ञात ही बना हुआ है।

ज्ञात और अज्ञात, नाम और काम यह रहस्य नहीं स्पष्ट है। स्पष्ट हुआ है उनके द्वारा जिन्होंने चिन्तन, मनन में जीवन-यापन किया, वे ऋषि,

मुनि कहलाये। आज भी विचारों की धारा उसी प्रकार प्रवाहित हो रही है। जिनके हृदय में अज्ञात के परिचय के लिये व्याकुलता है उन्हें आज भी अज्ञात परिचय देता है और देता है ऐसा दिव्य जीवन जिसे पाकर मनुष्य, मनुष्य होता हुआ भी अन्य जनों के लिये कौतुहल का कारण बन जाता है। वाणी रसीली, प्राणी अति प्रसन्न। धरा धन्य जब ऐसे प्राणी वाणी का प्रयोग करते हैं। ऐसे व्यक्तियों की साधना संसार हित के लिये आदर्श बन जाती है। उनके कार्य चमत्कारी, उनकी वाणी अमृतमयी तथा प्रेरक बन जाती है उनके लिये, जो दिव्य जीवन के इच्छुक हैं किन्तु यह कार्य उनका नहीं होता, अज्ञात का होता है इसीलिये विज्ञान कहते तथा समझते हैं कि “काम तेरा और नाम मेरा”।

सत्य सब के हृदय में है किन्तु प्रतिष्ठा (सत्य की) सब नहीं कर पाते। अन्य वस्तुओं का उपासक अन्न और मन के चक्र को भी नहीं समझ पाता, उसके लिये सत्य उपेक्षणीय बन जाता है। सत्य उपेक्षणीय नहीं, किन्तु चिन्ता की गति-विधि ही ऐसी है कि वह उसे निश्चिन्त नहीं होने देती। जो निश्चिन्त नहीं वह निश्चित, अनिश्चित को क्या समझेगा ? जिसका चित्त सत्य की ओर नहीं, आनन्द की ओर नहीं, वह सच्चिदानन्द को क्यों जानने लगा तथा मानने लगा ?

“काम तेरा और नाम मेरा” यह भाव तो उस भावुक-हृदय वाले के लिये है, जिसने जीवन के प्रत्येक क्षण को अपना नहीं, अज्ञात का माना तथा जाना है। अज्ञात है, संसार के अन्य जनों के लिये किन्तु उसके लिये अज्ञात प्राणों से भी अधिक प्रिय है तभी वह बरबस कह उठता है - “काम

तेरा नाम मेरा।” मेरा नाम ? क्या मैं नाम का भूखा हूँ ? नाम का नहीं, तेरे नाम का भूखा, भूखा ही हूँ। जन्म अनेक हुए किन्तु भूख न मिटी। बार-बार मिट्टी में ही समाता गया, भूख न मिटी तेरे नाम की। तेरा नाम मिट्टी में समानेवाला नहीं, मिटा देता है जन्म-जन्मान्तर के विषयों की भूख किन्तु यह काम तेरा है अज्ञात और नाम दिलाता है अपने भक्त को जिसे युगों तक स्मरण करती है दुनिया। क्या यह तेरी महती कृपा नहीं ? स्वयं अज्ञात बना रहता है और भक्त को नामी बना देता है। **तेरे काम अनोखे, तेरे धाम अनोखे, जहाँ सूर्य नहीं, चन्द्र नहीं, दिवस नहीं, रात नहीं, प्यास नहीं, भूख नहीं, आहार नहीं, विहार नहीं, नहीं नहीं, हाँ नहीं, सुबह नहीं, शाम नहीं, विषाद नहीं, प्रमाद नहीं, वाद नहीं, विवाद नहीं, कथा नहीं, व्यथा नहीं, शून्य नहीं, पूर्ण नहीं, दुष्ट नहीं, शिष्ट नहीं, अवशिष्ट नहीं, विशिष्ट नहीं, राम नहीं, श्याम नहीं, अर्जुन नहीं, कृष्ण नहीं, वशिष्ट नहीं, राम नहीं, धरा नहीं, धाम नहीं, संकेत नहीं, विभेद नहीं, रटना नहीं, भटकना नहीं, उष्ण नहीं, तीक्ष्ण नहीं, सूक्ष्म नहीं, स्थूल नहीं, जल नहीं, स्थल नहीं, पाप नहीं, पुण्य नहीं, गंगा नहीं, यमुना नहीं, देव नहीं, दानव नहीं, ऋषि नहीं, मुनि नहीं, भला नहीं, बुरा नहीं, - वहाँ तू है, अज्ञात तू ही तू है। यह काम तेरा है नाम चाहे तू जिसे दिला दे। अज्ञात का धर्म अज्ञात, अज्ञात का कर्म अज्ञात।**

विश्व में धर्म और कर्म की चर्चा ही प्रधान। धर्म और कर्म का मर्म भी सरल नहीं। **भिन्न रूचि, भिन्न धर्म।** भिन्न कर्म, भिन्न परिणाम,

परिणाम शुभ, अशुभ। अशुभ में परिवर्तन कभी सफल, कभी असफल। असफल पतन, सफल उत्थान। उत्थान और पतन तरंग के दो रूप। कभी गगन-चुम्बी उत्ताल तरंग, कभी रसातल-स्पर्शी निम्न तरंग। देश का इतिहास, जाति की कथा, मनुष्य की व्यथा तथा प्रसन्नता का खेल ही तो होता आ रहा है जिसे मनुष्य आश्चर्य तथा भय से पढ़ता आ रहा है। अज्ञात का काम अज्ञात ही रहा। जिन्होंने जाना वे चुप ही रहे। ऐसा होता आया है ऐसा ही होता रहेगा फिर मनुष्य संत्रस्त क्यों, भयभीत क्यों ? अज्ञात को नहीं जानता उसके कर्म को नहीं पहचानता। ग्रन्थ कथाओं से परिपूर्ण साहित्य मन को अवसाद तथा उल्लास देता रहा है किन्तु अज्ञात यदि अज्ञात ही बना रहा तो शान्ति कहाँ, सन्तोष कहाँ ? कहाँ है वह अज्ञात जो सब कुछ करता हुआ भी अज्ञात है ? मनुष्य का किया हुआ कार्य मनुष्य देखता है, किन्तु अज्ञात का काम अज्ञात ही रहता है जब तक कि अज्ञात से परिचय न हो। प्रधानता मनुष्य की या अज्ञात की ? अज्ञात की, यदि कहा जाये तो अनेक बुद्धि-प्रधान चिल्ला उठेंगे - “कहाँ है अज्ञात।” मनुष्य ने ही लोक को सुन्दर बनाया है। कैसे विश्वास करे वह मनुष्य जो अज्ञात को जानता है। **मनुष्य का नाम, अज्ञात का काम। यह रहस्य नहीं रसमय स्पष्ट है।**

अज्ञात है नहीं, अज्ञात कहलाता है। मनुष्य को तन की पूर्णता दी, मन की पूर्णता के लिये उसे अन्य मनुष्य की ओर देखना पड़ता है, जिसने पूर्ण को पहचानने के लिये अनेक साधन अपनाये। **अपनाना तो अपना बनाना है।** प्रश्न हो सकता है, जो अपना है उसे अपना बनाना कैसा ? यही तो रहस्य है, जो अपना है उसे भी मनुष्य अपना यदि न बना सका तो जीवन स्वप्नवत् ही बीतता है।

प्रथम ध्यान फिर ज्ञान। ज्ञान अज्ञानता से मुक्ति दिलाता है। मुक्ति थी किन्तु ध्यान न था, ज्ञान न था। ज्ञान हुआ, अज्ञात से ज्ञात हुआ। जीवन का नवीन प्रभात हुआ। अज्ञात की बातें ही कर मनुष्य यदि कर्त्तव्य की इति श्री समझ बैठे तो यह होगा उसका भ्रम, जिसका निवारण अति आवश्यक है। **निवारण आवरण नहीं रहने देता**, वह आवरण को अज्ञानता का कारण बतलाता है। कारण के बिना कार्य नहीं होता यह प्राचीन उक्ति है। उक्ति, उक्ति ही रहती, मुक्ति न होती यदि भ्रम का निवारण न होता। भ्रम निवारण के लिये श्रम अपेक्षित है। श्रम केवल शारीरिक ही रहा तो कर्मकाण्ड कहलाया यदि मानसिक हुआ तो ज्ञान का पथ-प्रदर्शक।

दर्शक अनेक, प्रदर्शक एक। प्रदर्शक भी पहले दर्शक ही था किन्तु किसी प्रदर्शक ने उसे दर्शक से प्रदर्शक बनाया। देखने वाले देखते हैं यदि यह पूछा जाये कि क्या देखते हैं तो यही कहा जायेगा कि अपनी मनोवृत्ति ही अन्य व्यक्तियों में देखते हैं। “जाकी रही भावना जैसी, प्रभु मूरति देखी तिन तैसी।” प्रभु को देखनेवाला भक्त हुआ, संसार को देखनेवाला सांसारिक। **सांसारिक संसार को देखते-देखते थक जायेगा, प्रभु को देखने वाला, आनन्द पायेगा, रहस्य समझ जायेगा, जीवन यों ही नहीं बितायेगा। कुछ पा जायेगा, कुछ दे जायेगा। देगा कर्त्ता का नाम और कहेगा “काम तेरा, नाम मेरा।”** जिस चमत्कार को देख कर साधारण जन नमस्कार करते हैं वह चमत्कार अज्ञात का है उस मनुष्य विशेष का नहीं जिसे वे नमस्कार करते हैं।

अज्ञात के सभी काम अज्ञात ही रहते हैं जब तक कि उससे (अज्ञात से) परिचय न हो। परिचय भी उसकी कृपा पर अवलम्बित है।

कभी अविलम्ब होता है और कभी युग के युग बीत जाते हैं । यह भी रहस्य है, इसे समझाये कौन ? समझ भी उसी की है, मनुष्य विशेष की नहीं। किस पर दया होगी, कब होगी, किस युग में होगी, यह कहना कठिन है। वह “जाति पाँति नहीं देखता।” यह कार्य तो मनुष्य ने अपने लिये निश्चित कर रखा है। धार्मिक ग्रन्थों का हवाला देते हुए अपने विचारों की पुष्टि करता आया है (मनुष्य)। मनन करे तो मनुष्य किन्तु जो हनन करने में लगा है अज्ञात आत्मदेव का वह मनन क्यों करने लगा ?

मन लगा, मनन होने लगा, हनन होने लगा निरर्थक विचारों का। अब सम्पर्क होने लगा अज्ञात शक्ति से। अज्ञात शक्ति ने, शक्ति दी, भक्ति दी। वाणी में चमत्कार उत्पन्न हुआ। साधारण जन चमत्कारी कहने लगे उस व्यक्ति को जिसके द्वारा व्यक्त हुई अमृतमयी वाणी। काम तो अज्ञात का है नाम उस व्यक्ति का हुआ जिसने अज्ञात को अपनाया। बार-बार कहता है, “काम तेरा, नाम मेरा”, कैसे इन भोले प्राणियों को समझाऊँ कि यह काम मेरा नहीं, काम उसी अज्ञात का है जो सब कुछ करता हुआ भी अज्ञात बना बैठा है। नाम दुनिया चाहे किसी व्यक्ति विशेष का क्यों न ले, काम उसी अज्ञात का है। जानेगा, वह मानेगा, अनजान, क्यों जानें, क्यों मानें ?

\*\*\*

## “कैसा भूल भुलैया”

भूल हुई और भूल न मानें, “भूल भुलैया” प्रारम्भ।

मूल में ही भूल, कैसे मिटे हृदय की शूल, कैसे पाये कूल, जहाँ प्रेम फूल खिलते हैं हृदय का सौरभ लुटा, धूल में मिलते तथा पुनः नवीन कलेवर धारण कर, धरा धाम की शोभा बढ़ाते हैं।

“सम्भवामि युगे-युगे” भी किसी ने कहा था, अपमान भी सहा था किन्तु उसने मान, अपमान को समान समझने का केवल उपदेश ही नहीं दिया था स्वयं भी सहा और सदा यही कहा - “सह, न किसी से कह, यदि कहना ही चाहता है तो मुझसे कह, मैं ही तेरा दुःख दर्द जानता हूँ क्योंकि मैं तेरे हृदय में स्थित तथा तेरे अति समीप हूँ। मैं तेरा मीत हूँ, प्रीति बढ़ा मुझसे, मुझे जान पायेगा।” लोग उसे भगवान कहने लगे, था भी वह भगवान और है भी वह भगवान किन्तु उसकी मूर्ति बना मन्दिर ही सजाए, झूले में झुला कर (लोग) भक्त ही कहलाये, उसकी वाणी को हृदय में स्थान न दिया तो क्यों मन्दिर बना कर संसार को भूल-भुलैया में डालने की चेष्टा की ? हृदय मन्दिर में निवास करनेवाले को पत्थर की मूर्ति बना उसे पार्थिव अलंकारों से विभूषित कर, क्या पाया ? चेतन को जड़ रूप देकर जड़त्व ही फैलाया। चेतन को चेतन से क्यों न मिलाया कि सर्वत्र उसकी ज्योति जगमगाती तथा उसकी पूजा भी मन मन्दिर में होती, कोई कह न पाता - हे पत्थर के भगवान। **वह पत्थर नहीं, वह तो पथ को तर करनेवाला है**, विषय वासना की धूल को पथ पर उड़ने ही नहीं देता सदा तर रखता है अन्तर को, बाहर को।

अधिकांश मनुष्यों से सदा भूल होती आई। चेतन को प्यार न देकर उसे केवल मूर्ति बनाकर मंदिर सजाये। जिन्हें उन लोगों ने ध्वंश किये जो मूर्ति के विरोधक थे। क्या यह भूल-भुलैया नहीं कि एक मूर्ति बनाये और एक ध्वंश करे तथा दोनों ही अपने को भगवान का भक्त कहे ? अतीत को महान समझना तथा वर्तमान को तुच्छ, अतीत के गीत गाना तथा वर्तमान की निन्दा, चार युगों में कलिकाल अति पाप पूर्ण, कर्म काण्ड की प्रशंसा तथा ज्ञानमार्ग की खिल्ली उड़ाना यह भी भूल-भुलैया नहीं तो क्या है ? पृथ्वी पर वास करने वाला प्राणी यदि पृथ्वी की निन्दा करे, संसार को असार कहे, धर्म को पाखंड तथा अफीम, ईश्वर के अस्तित्व में संदेह करे, ऐसा प्राणी स्वयं को बुद्धिमान समझे तो यह उसका अक्षम्य अपराध है। जहाँ वास करे उस स्थान की निन्दा शोभनीय नहीं। यदि स्वच्छता को न अपनाये तो मलिनता ही मलिनता दृष्टिगोचर होगी। तन की मलिनता जहाँ दुर्गन्ध का कारण है, वहाँ मन की मलिनता मनुष्य को बेचैन बनायेगी, इसमें आश्चर्य क्या है ? प्राचीन ऋषि-मुनियों ने वास तो पृथ्वी पर किया किन्तु इसे मलिनता का कारण न बनाया। उच्च विचारों ने उन्हें तन, मन की मलिनता से बचाया। **जैसा विचार वैसा संसार**। मनुष्य लाचार है अपने विचारों से। लाचार यदि यह कहे ला-चार-(धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) तो, लाचारी न रहेगी मनुष्य सदाचारी बनेगा। वह यह न कह सकेगा कि यह संसार असार है। सार यदि ग्रहण न करे तो पृथ्वी का क्या दोष ? युग का क्या अपराध ? निन्दा आसान, प्रशंसा तो तब न करेगा, जब इनसे (पृथ्वी, युग से) लाभ उठा पाये।

कैसे वे धर्माचारी थे जिन्होंने संसार की निन्दा ही की प्रशंसा न की। धार्मिक दृष्टि से जिसे “धोखे की टट्टी” कहा जाये वहाँ शुभ भावना का



उदय होना सरल नहीं। जो “स्व” को नहीं जानता उसकी स्वार्थपरता तो अबोध भाव का द्योतक है। वस्तु, विचार और विश्व ने किसी का अमंगल नहीं किया यह तो मनुष्य की अज्ञता थी और है कि वह इन तीनों से लाभ उठाने की चेष्टा ही नहीं करता। जिन्होंने की (चेष्टा) उन्होंने जीवन को वरदान पाया, अभिशाप नहीं। जहाँ विचारों का भूल-भुलैया है, वहाँ शान्ति कहाँ, प्रेम कहाँ ? पृथ्वी पर हल चला कर तो शायद अधिक अन्न उत्पन्न कर सकेगा किन्तु यदि विचार ही मलीन रहे तो उसका अधिक अन्न उत्पन्न करना भी समस्या हल न कर सकेगा। अन्न, तन की भूख मिटा सकता है किन्तु मन की भूख उसे भीखमंगा बनाकर छोड़ेगी। अतुल धन राशि भी मनुष्य को शांति नहीं दे पाती कारण है विचारों की मलिनता।

असन्तोष मनुष्य को अपने जीवन से है, अपने कर्मों से है, अपने विचारों से है। जहाँ यह कहा जाता है कि सन्तोष अकर्मण्यता का पर्यायवाची शब्द है, वहाँ शान्ति कहाँ ? विचारों ने गुण को अवगुण घोषित किया, वहाँ भूल-भुलैया प्रारम्भ। अधिक धन, अधिक चिन्ता, धन का अभाव महाचिन्ता। चिन्ता और सन्तोष दो विपरीत भाव हैं। एक दुःख का कारण, दूसरा सुख का। किन्तु जो सुख-दुःख का विवेचन न करता हुआ, काम करता जा रहा है उसका परिणाम विचारणीय है। भूल बैठा है अपने रूप को, अपने प्रभु को, कर्तव्य को, चिन्ताधारा को, सद्व्यवहार को, तथा कर्म तथा धर्म क्षेत्र को वासना की लीला भूमि बना रखा है, अब शांति सन्तोष कहाँ ?

अनेक युद्ध हुए और यदि मनुष्य, मनुष्य को मनुष्य न समझे तो युद्धों का अन्त नहीं। युद्ध हृदय को शुद्ध नहीं कर पाता। यदि कर पाता

तो युद्धों का सदा के लिये अन्त न हो जाता। किन्तु हुआ कहाँ ? शुद्ध हृदय स्वार्थ और परमार्थ को अच्छी तरह जानता है तथा युद्ध नहीं शान्ति को अपनाता है।

शान्ति और क्रान्ति में शान्ति ही प्रधान। क्रान्ति का उपासक भी शान्ति का ईच्छुक रहा है। ध्वंश और निर्माण में निर्माण महान। महान को क्षुद्र तथा तुच्छ समझ बैठना, भूल-भुलैया नहीं तो क्या है ? आदर्श नभ के सदृश्य, कार्य धूलि धूसरित, वहाँ आदर्शवाद निरर्थक प्रवंचक ही कहलायेगा। कहता है लाता नहीं हृदय की शान्ति, तो भ्रांति का ही प्रसरण होगा।

युगावतारियों की कथा अति प्रेम से पढ़ते हैं उनके भक्त किन्तु वे अवतारी किन गुणों के कारण कहलाये उनकी ओर ध्यान न दिया, यह भी तो भूल-भुलैया ही है। संसार का चक्र अनवरत चल रहा है, मनुष्य के विचार बदल रहे हैं। न विचारों के चक्र को समझ पाता है और न सृष्टि के विकास और विनाश को, न 'स्व' को न 'पर' को, फिर भी बड़े-बड़े ग्रन्थों की रचना करता आ रहा है। कभी ज्ञान को प्रधानता देता है कभी विज्ञान को, शान्त नहीं हो पाता यह भी भूल-भुलैया है। समस्या उपस्थित करता है और समाधान भी, फिर भी समस्याओं का अन्त नहीं हो पाता। उलझन अनेक, साधन एक किन्तु उस एक को न मान, अनेक की कल्पना कर व्यथित ही होता है सन्तुष्ट नहीं यह भी तो भूल-भुलैया ही है। बुद्धि को भ्रमित करने तथा मन को चञ्चल करने के लिये मनुष्य ने भी भूल-भुलैये बनाये किन्तु वह यह क्यों नहीं समझता कि वह स्वयं भूल-भुलैया के चक्कर में पड़ा हुआ है। एक बुद्धिमान दूसरे को इस चक्कर में डालकर

स्वार्थ सिद्धि में लगा हुआ है। अनेक धर्म, अनेक मत इसी भूल-भुलैया के पृष्ठ पोषक हैं। इन चार युगों में अनेक मत आये और विलीन हुए किन्तु मनुष्य आज तक समझ न पाया कि इसका प्रारम्भ कहाँ है तथा अन्त कहाँ ? दृष्टि घूमती है और विचारों की नई सृष्टि दीख पड़ती है। भ्रम प्रेरक है श्रम का। श्रम जहाँ व्यर्थ, व्यथा प्रारम्भ। **व्यथा कथा से शांत न हो पाई। पाई जिन्दगी, वह भी व्यथा में खोई।** खोई और पाई और कहने लगा “हे भगवान अब का होई।” भूल का सुधार हो सकता है यदि सुधार की इच्छा तथा प्रयास हो किन्तु भूल-भुलैया का सुधार तो तब न हो जब उसे समझे तथा जाने कि भ्रम के अनेक रूप होते हैं। उन अनेक की गुत्थियों को सुलझाना साधारण मनुष्य का कार्य नहीं। अभिमान वश यदि मनुष्य कोई कर्म करे यदि वह पूर्ण हो भी गया तो अभिमान की ही वृद्धि होगी, कार्य की सिद्धि विशेष अर्थ नहीं रखती।

प्राचीन काल में ऐसे ऋषि-मुनि हुए जिन्होंने घोर तपस्या की तथा तपस्या का बल प्राप्त कर, प्रकृति के विरुद्ध कार्य करने प्रारम्भ किये उन्हें असफल तथा लज्जित ही होना पड़ा किन्तु इन कथाओं को सुन तथा पढ़कर मनुष्य कब समझ पाया कि अभिमान तथा प्रकृति विरुद्ध कार्य कष्ट का कारण बनता है, शान्ति का नहीं। विध्वंश में लगा हुआ प्राणी निर्माण भी कर सकेगा यह विवाद ग्रस्त प्रश्न है। प्राचीन को घृणास्पद समझ नवीन विचारों का उपासक बनना यदि सरल है तो दुष्कर भी है। प्राचीन भी कभी नवीन था तथा नवीन आज नवीन है समय उसे भी प्राचीन बना देगा। यह भी विचारों का भूल-भुलैया ही है। आज के सामाजिक नियम कुछ समय के पश्चात् कष्टदायक हो सकते हैं।

प्राणी का जन्म व्याकुलता से प्रारंभ तथा अंत भी व्याकुलता में होता है, किन्तु व्याकुलता क्यों थी तथा क्यों है इसका मर्म भी जान पाता तो कुछ शांति मिलती। इस व्याकुलता से रक्षा पाने के लिये उसने अनेक कार्य किये। धर्म विशेष का अनुयायी बना, कुछ पूजा पाठ का उपक्रम भी किया, मान्यता के सम्मुख सिर भी झुकाया किन्तु क्या पाया ? क्या शांति ? नहीं ये धर्म कर्म किस काम आये ? धर्म, कर्म ने अब भी उसे भूल-भुलैया में डाल रखा है। प्रश्न हो सकता है, यदि धर्म, कर्म भी भूल-भुलैया में डालने वाले हैं तो शांतिदायक कौन ? व्यक्ति विशेष की उक्ति, सूक्ति किस अवस्था में शान्तिप्रद होती है, इसका ज्ञान भी सबको नहीं।

धर्म की व्याख्या स्वार्थवश मनुष्य मनमानी करता आया। जहाँ स्वार्थ प्रधान, वहाँ धर्म का क्या काम ? स्वार्थ ही प्रधान। **‘स्व’ रथ पर आरूढ़ नहीं, वहाँ रथ चकनाचूर हुआ और धर्म बदनाम।** बदनाम वह, जिसने बदनामी का रास्ता न दिखाया, फिर भी बदनाम हुआ यही तो भूल-भुलैया है।

वैसी ही कर्म की अवस्था है, कर्म के प्रवाह से अनजान, कुछ दिन का मेहमान प्राणी प्रवाह की गति को शुभ, अशुभ मान, सुख, दुःख का भान कर चला प्राणी अज्ञात लोक को, जहाँ अपना कहलाने वाला कोई नहीं। स्थिति नहीं, परिस्थितियों से घिरा हुआ मनुष्य क्या करे, क्या न करे, यह न जानता हुआ भी कुछ न कुछ कर रहा है, कुछ हो रहा है। कुछ को ही सब कुछ समझ बैठना क्या भूल-भुलैया नहीं ? प्रत्येक क्षण विचार आते हैं और विलीन हो जाते हैं। यह आवागमन मन को दुर्बल बनाता है

या सबल, इसे न समझ पाना फिर भी उन्हीं के चक्कर में जीवन बिताना क्या भूल-भुलैया नहीं ?

आकाश की तरह अनन्त भाव रखने वाला मनुष्य यदि विराट भाव को न अपना सके तो मनुष्य का मनुष्यत्व कहाँ सार्थक हुआ ? मनुष्य का मूल्य है, मूल है। उसने प्रकृति पुरुष को समझने के लिये साधना की है और कर रहा है इस साधना को कौन सफल बनाता है इस रहस्य को न समझ पाना क्या भूल-भुलैया नहीं ? मूल्य वस्तु का है तो मनुष्य का भी है, मूल्य निर्धारित करता है मनुष्य। वस्तु की उपयोगिता ने वस्तु को उपयोगी बनाया। योगी यदि उपयोगी न सिद्ध हुआ तो योगी मानसिक रोगी। मानसिक रोग अनेक भूल-भुलैया का कारण बनता है। जीवन का मूल्य न समझनेवाला मनुष्य-जीवन से क्या लाभ उठा पायेगा ?

जीवन रक्षा प्रधान, किन्तु केवल रक्षा में ही लगा रहा तथा उपयोगिता की ओर ध्यान न दिया तो यह रक्षा किस काम आई ? वह वृक्ष जो फल-फूल से रहित है, काष्ठवत् ही दण्डायमान है उसकी रक्षा तो भू भार है। जब तक स्थित रहेगा रसा (पृथ्वी) का रस यों ही नष्ट करता रहेगा। वैसी ही अवस्था उस मनुष्य की भी है, जिसने जीवन रक्षा को ही प्रधान माना है। वृक्ष पृथ्वी पर स्थित है तथा प्राणी भ्रमण करता है पृथ्वी पर किन्तु दोनों की ही रक्षा आकाश स्थित सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र तथा जल से है। आकाश स्थित बादल न बरसते तो ये महा-समुद्र, ये नदियाँ, ये सरोवर, ये कूप केवल स्थल रूप में ही दृष्टिगत होते तथा पृथ्वी पर प्राणी तो क्या वृक्ष लता का पता तक न होता।

रक्षा के मूल को न समझना भी तो भूल है। जहाँ प्रकृति ने प्राणी को सजीवता दी है, वहाँ पुरुष ने प्राणी को पुरुषत्व का हिस्सेदार बनाया और उसने कहा-मैंने प्रकृति बनाई तुम्हारे उपभोग के लिये, आनन्द मनाओ किन्तु मुझे न भूलो, नहीं तो भटकते रह जाओगे प्रकृति के भूल-भुलैया में। किन्तु जिसने उस करुणामय को भुलाया तथा जीवन-रक्षा को प्रधान माना वह आज भी भूल भुलैया के चक्कर में फँसा तथा सृष्टिकर्ता को न जानता हुआ भी सृष्टि तथा सृष्टिकर्ता को अपशब्द कहने में ही लगा है।

**जीवन भार यदि मनुष्य पहना न सका भाव का हार।** स्थूल प्रकृति के कण-कण में वह रस भरा है, जिसकी मनुष्य कल्पना भी नहीं कर सकता। प्रकृति के उन रसों का अनुसन्धान न कर मनुष्य संलग्न है विध्वंस के कणों को एकत्र करने में। विनाश की भावना मनुष्य में इतनी तीव्र क्यों है ? शायद वह विनाश को ही विकास समझ रहा है। जहाँ मनुष्य ने साधना का आधार पकड़ा तथा साधना सफल हुई तो मनुष्य ने उसे (साधना को) अनिष्ट में लगाया। विश्वामित्र, रावण तथा दुर्वासा आदि का आख्यान इसके प्रमाण हैं ।

**शक्ति का दुरुपयोग शक्ति विनष्ट करता तथा सदुपयोग शक्ति की महिमा बढ़ाता।** यह घटाना और बढ़ाना किस काम आया यदि मनुष्य जान न पाया कि प्रकृति के खेल अनन्त हैं। यह अनन्त की है, किसी व्यक्ति विशेष की नहीं। अवतारी आये, सदाचारी आये खेलकर अनन्त में लीन हो गये, विलीन हो गये। आये वे भी जिन्होंने सताया जीव मात्र को किन्तु सताया ही, सत्य को न पाया। साधना दोनों ने की। एक ने कल्याण की भावना को भव में प्रसारित किया तथा दूसरे ने अनिष्ट तथा

विनष्ट को अपनाया। इष्ट दोनों के थे। कुछ कर गये, कुछ हो गया इष्ट, अनिष्ट किन्तु यह स्थूल तथा सूक्ष्म प्रकृति ज्यों की त्यों है। यह भी तो भूल-भुलैया ही है न कि दोनों का किया-कराया उनकी ख्याति तथा कुख्याति का कारण बना। प्रकृति का उपयोग तथा उपभोग दोनों ने किया, किन्तु साधारण जन की बातों का वे (दोनों) विषय बन गये। किसी महायोगी ने कहा था - 'मम माया दुरत्यया'। ठीक ही है प्रकृति के खेल को जानना साधारण कार्य नहीं।

माया तथा प्रकृति दो भिन्न शक्ति है महाशक्ति की। प्रकृति की साधना ने अनेक गुप्त तथा सुप्त रहस्यों का उद्घाटन किया। अथच् मनुष्य के सुख की अभिवृद्धि की किन्तु माया ने भ्रम की सृष्टि। मनुष्य की बुद्धि जहाँ थक जाती है, मनोकामना पूर्ण नहीं, अपूर्ण ही रह जाती है वहाँ माया अपना कौतुक दिखलाती है। स्वर्ण मृग जहाँ भ्रमण करता है वहाँ, यह स्वर्ण है या मृग या स्वर्ण का ही मृग है ऐसा भ्रम माया ही उत्पन्न करती है प्रकृति नहीं। **साधना की सहायिका प्रकृति, भ्रम उत्पादक माया।** मनुष्य समझता हुआ भी नासमझ बन जाता है ऐसी अवस्था का कारण माया है। इसे समझ पाना कि ऐसा क्यों तथा कैसे हुआ करता है यह मानवीय बुद्धि के लिये सरल नहीं। मानसिक कल्पनायें स्थूल रूप धारण कर बुद्धि को समझने में असमर्थ कर देती हैं वहीं माया उपस्थित हो जाती है। लेखक लिखता है तथा पाठक पठन किन्तु माया उन दोनों की समझ के परे है। **भ्रम या भूल-भुलैया की जननी माया है।** माया को यदि छाया कहा जाये तो प्रकाश ब्रह्म है। ब्रह्म और माया, प्रकाश और छाया से विश्व आच्छादित है। साधक ज्यों-ज्यों प्रकाश की ओर अग्रसर होता है माया से दूर होता जाता है और ब्रह्म के समीप।

ब्रह्मज्ञानी कहलाना आसान है और होना कठिन। होने में कहना नहीं बनता। कहना तो भूल-भुलैया है। तर्क के द्वारा न्यायाधीश को भुलावे में डाला जा सकता है किन्तु सृष्टिकर्ता को भ्रमित नहीं किया जा सकता। सर्परज्जू का उदाहरण बुद्धिमानों के लिये उचित हो सकता है किन्तु भावुक हृदय के लिये नहीं। वह सर्परज्जू के फेर में नहीं पड़ता वह अनुभूति चाहता है, उदाहरण नहीं। उदाहरण अनेक दिये जा सकते हैं बुद्धि बल पर किन्तु भावुक उदाहरणों से सन्तुष्ट होने वाला नहीं। अनुभूति ही उसके हृदय को शान्त कर सकेगी।

ज्ञानी और भक्त एक ही वृक्ष की दो शाखाएँ हैं एक शुष्क, दूसरी पल्लवित। शुष्क कब हुआ सन्तुष्ट ? पल्लवित तो फलप्रद होगा। शब्दों की लड़ी और झड़ी ने विश्व में कोलाहल मचा रखा है। रचा (विश्व) आनंद के लिये और मचा रखा है कोलाहल। इस शब्द के मायाजाल ने अनेक धर्म और पंथों को ही बढ़ाया, विश्व प्रेम का पाठ न पढ़ाया। धार्मिक ग्रन्थ जिनकी रचना बुद्धि बल से हुई वे यदि हृदय प्रदेश में प्रवेश कर पाते तो विश्व कुछ और ही होता, विषवत न होता। हृदय का रक्त शरीर के अंग-प्रत्यंग में प्रवाहित होता हुआ शरीर के रोम-रोम का हित चाहता है तभी न शरीर की रक्षा सम्भव है।

**समभाव नहीं तो सम्भव कैसे हो ?** सोचा कभी धर्म प्रचारकों ने कि हम क्या कर रहे हैं ? यह प्रचार तो भूल-भुलैये का सहायक बन जाता है। धर्म के नाम पर मनुष्य को धर्मान्ध बनाया तथा ऐसे धर्मान्धों की देव तुल्य पूजा की। यह विश्व का इतिहास है जहाँ धर्म कर्म के नाम पर नर हत्याएँ हुईं। आज वही कार्य 'वाद' के नाम पर हो रहा है। यह वाद भी तो



धर्म का ही हिंसक रूप है। हिंसा, प्रतिहिंसा मनुष्य को कभी शांत न होने देगी। क्रोध अग्नि में आहुति दे रहे हैं ये वाद प्रचारक, यह भूल-भुलैया नहीं तो क्या है ? जिह्वा स्वाद के लिये जीवों की हिंसा कहाँ का धर्म है ? हिंसा का प्रचार आसान, प्रेम का दुष्कर। कारण स्पष्ट है, जैसे विचार वैसा संसार। रहना है संसार में तो सुख से रहो। परलोक की मान्यता न सही, इस लोक को तो आराम से रहने के योग्य बनाओ। वाद और धर्म, कर्म के भूल-भुलैया में न फँसो। सत्य को समझो तथा अन्य को कष्ट न हो ऐसा आचरण बनाओ। ये उपदेश नहीं, इसी देश में रहने के सरल कार्य हैं। कार्य, कारण के विवाद में फँसना तो भूल-भुलैया है।

\*\*\*

## ये कलियाँ

ये कलियाँ खिलती हैं, मुरझाती हैं, सौरभ फैलाती हुई अनन्त में विलीन हो जाती हैं। अनुपम है इनका जीवन जहाँ काँटों की परवाह नहीं, जय-पराजय का विचार नहीं।

मनुष्य का हृदय भी कली है जहाँ अनेक रंग, अनेक भाव खिलते हैं और मुरझाते हैं। हृदय परिवर्तन की बातें सुनीं और सुनीं हृदय की पुकार जो कभी बेकार न हुई। विचित्र है यह संसार जहाँ हृदय रहते हुए भी हृदयहीन देखे गये तथा देखे जाते हैं। हृदय के आसन पर विराजमान है हमारा सम्राट। विश्व के सम्राट हृदयहीन हो सकते हैं किन्तु हमारा हृदय सम्राट दया का भण्डार है। निर्जीव और सजीव का जगत आज विद्यमान है, कल नहीं भी हो सकता है किन्तु हृदय का सम्राट सर्वदा रहता है, तभी न वह पुनः नवीन संसार का सृजन करता है।

सृजन और विसर्जन की बातें काल्पनिक-सी प्रतीत होती हैं। मनुष्य जीवन की अवधि अति अल्प। न देखा उसने प्रारंभ और न देखा अन्त, वह अनन्त काल की गति को कैसे जान सकता है ? मनुष्य ने कल्पना की और उसी को सत्य मान बैठा। यह तो कल्पना थी और कल्पना है, इसमें सत्य क्या है यह सत्य ही जाने, मनुष्य क्या जानें ? अतः सृजन एवं विसर्जन का इतिहास आज भी कल्पना के आधार पर स्थित है। मनुष्य देखता है अन्य मनुष्य का जन्म तथा मृत्यु इसी आधार पर वह सृष्टि के प्रारम्भ और अन्त की कल्पना करता है।

कल्प-कल्पान्तर की बातें भी वह कल्पना के आधार पर कहता आया है किन्तु यथार्थ क्या है उसकी कल्पना की वहां पहुँच नहीं। कलियाँ खिलती देखीं, मुरझाती देखीं और चकित हो कहने लगा ये कहाँ विलीन हो गई। विलीन कह सकता है क्योंकि उसकी दृष्टि की वहाँ पहुँच नहीं। उनका विसर्जन हुआ है अनन्त देव के लिये। विसर्जन ही होती है सृजन कर्ता के लिये। सभा का विसर्जन देखा किन्तु कलियों का विसर्जन वह क्यों मानें वह अन्त शब्द का ही प्रयोग करता आया है।

प्रयोग अनेक हो सकते हैं, प्रयोग एक ही अवस्था में हो सकता है, यह कहना अज्ञता है, विज्ञता नहीं। विज्ञ ने विज्ञान से लाभ उठाया और ज्ञान से भी किन्तु अल्पज्ञ के लिये दोनों ही आश्चर्य के विषय बन गये। अल्पज्ञता का हास, विज्ञता का विकास। विकास ही तो खिलना है कलियों का अन्यथा विनाश तो निश्चित समय पर होता ही रहता है।

कलियों के विकास का भी इतिहास है। हृदय स्थित उष्णता, प्रकृति प्रदत्त शक्ति, सूर्य, चन्द्र का सम्पर्क, धरा की तरी ने विकासोन्मुख किया कली को। कली अब अकेली न थी। उसके अंग-प्रत्यंग विकास की ओर अग्रसर हो रहे थे। जीवन में इसी प्रकार बहार आती है जब मनुष्य के हृदय की कली खिलती है। यह काव्य भावना ही यथार्थता है। न पाप है और न अभिशाप यदि हृदय की कली खिले।

**जीवित रहना जीवन नहीं, जीवन है कली के प्रस्फुटन में, हृदय की।** साहित्य वही जो हित करे, सहायक हो मनुष्य के जीवन विकास में। धार्मिक ग्रन्थ यदि हृदय के लिये ग्रन्थी सिद्ध हों तो उनकी

उपयोगिता ही क्या रही ? धर्म केवल विधि, निषेध आदेशक हो तो उनके प्रति अनुराग कहाँ ? हृदय की कली अनुरागाभिलाषिणी है। अनुराग ही उसका जीवन है। अन्यथा नीरस, शुष्क, अनुराग रहित जीवन तो भार रूप हो जाता है। कली को खिलाने के लिये मनुष्य पशुवत् हो जाता है, विवेकहीन हो मादकता का सेवन करने लगता है, आचरण शिथिलता मनुष्य को दुर्बल बना देती है, शरीर से मन से। कली का प्रस्फुटन उसे देवत्व पद प्रदान करता है। रस की मधुरता आस्वादन बतलाती है, रस की प्रशंसा नहीं। अवश्य ही प्रशंसा उत्सुकता को प्रोत्साहित करती है, जिज्ञासा का द्वार खोलती है, हृदय को स्पर्श करने की चेष्टा करती है, अनुराग की ओर सकेत करती है।

कली न खिली, बेकली उपस्थित। बेकली का कुप्रभाव मनुष्य तथा वस्तुओं पर ऐसा पड़ता है कि अति सुन्दर वस्तु भी मनुष्य को आकृष्ट करने में असमर्थ हो जाती है। धैर्य साथ छोड़ देता है, साहस मुँह मोड़ लेता है चिन्ता चिरसंगिनी बन जाती है, दुर्बलता घर बना लेती है, सब कुछ होते हुए भी मनुष्य अपने को निरीह तथा एकाकी समझ बैठता है। यदि कली खिलती तो इस दुर्दशा का मुख न देखना पड़ता।

केवल हृदय की कली का रूपक नहीं, आत्मा, अन्तरात्मा भी हैं। अन्तरात्मा आत्मा के प्रकाश से प्रकाशित है। आत्मा सूर्य है तो अन्तरात्मा चन्द्र। चन्द्र की कला घटती और बढ़ती है। अन्तरात्मा के भाव की भी वही गति विधि है। सूर्य के प्रकाश में अभाव नहीं। अन्तरात्मा जिस रूप से सम्मुख उसी रूप को सूर्य का प्रकाश प्रकाशमय बना देता है। यह संक्षिप्त वर्णन, आत्मा अन्तरात्मा के सम्बन्ध का सकेत मात्र है।

आत्मा को कली के रूप में देखना तथा परमात्मा को पुष्प में यह भी कल्पना ही है। जीव, बीज के रूप में है और उसकी वासना, कामना कली का रूप धारण कर विश्व को सुसज्जित करती है। जहाँ फूल खिलते हैं वहाँ काँटे भी देखने को मिलते हैं। न केवल फूल ही फूल हैं और न काँटे ही काँटे। घास भी है। घास अधिक है। साधारण प्राणी ही अधिक हैं। हीरों का अभाव और कोयलों की अधिकता स्पष्ट उदाहरण है। इन प्राणियों में चमकते हुए हीरे भी देखे जाते हैं। उनकी संख्या अल्प तो होती है। विश्व के सम्पूर्ण पदार्थों का उपयोग तथा उपभोग करने के लिये विधाता की श्रेष्ठ कृति मानव आया है किन्तु ऐसा उपयोग तथा उपभोग उसने किया कि वह चिन्ता के चक्कर में ही उलझा रहता है। न कर पाता है समुचित उपयोग और न उपभोग। हृदय की कली खिले तो कैसे खिले ? फूल का रूप पाना तो किसी-किसी भाग्यशाली को ही नसीब होता है।

कलियाँ चलीं, मुरझाती हुई, विधाता का क्या दोष ? खिले तो तब न, जब चिन्ता की अग्नि से मुक्त हो। ये कलियाँ कल बीज के रूप में थीं और आज कलियों के रूप में। ये खिलकर पुष्प भी बन सकती हैं, मुरझा भी सकती हैं। माली को गाली देना, दोषी ठहराना अनुचित है। विराट विश्व में रंग-बिरंगे फूल देखे जाते हैं। कुछ खिलकर सुगंध प्रसारित करते हैं तथा कुछ अपने रूप पर इतराते हैं, इनमें सुगंध का अभाव रहता है। भाव वाले खिलते तथा सुगंध फैलाते, कर्मकाण्ड वाले अपने कर्मों का ही रंग दिखलाते। इनमें भावों की सुगंध कहाँ ? हृदय की कली तो भाव चाहती है।

कर्म अपेक्षणीय नहीं। कर्म तो हृदय में हो ही रहा है भाव का ही अभाव रह जाता है। यह अभाव अनेक जन्मों का कारण बन जाता है।

कली यों ही मुरझाती है तथा जीवन की सार्थकता का सम्बन्ध उसका नहीं हो पाता। विधाता का विधान, सब के लिये समान किन्तु जीवन ससम्मान कहाँ बीता ? अपमान किया प्रकृति का, प्रकृति के प्रभु का। न खिलना या सुगंध न फैलाना अपमान ही है। मनुष्य जरा शान्त होकर सोचे कि तेरा जीवन किस प्रकार व्यतीत हो रहा है ? अर्थ की चिन्ता ने जीवन का अर्थ ही भुला दिया। शब्द का अर्थ न जानकर अज्ञानी बना तथा अर्थ का अर्थ न समझ कर मोह में फँसा। सृष्टि का क्रम है एक आता है तथा एक जाता है। जीवन त्योति इसी तरह प्रकाश देती आ रही है ब्रह्माण्ड को।

ज्योति से लाभान्वित न हुआ प्राणी तो ज्योति का क्या दोष ? रोष प्रगट करता है विधाता पर किन्तु यदि होश में रहता तो कली खिल न जाती। हृदय की बेकली मिट न जाती किन्तु ऐसा होता कहाँ है ? अज्ञानी कहता है - ऐसा क्यों नहीं होता, ज्ञानी कहता है -ऐसा होता है, जरा होश में आ, रोष को प्रधानता न दे, फिर देख, क्या नहीं होता ? यदि ऐसा न होता तो यह संसार ही निरर्थक सिद्ध होता। निरर्थकता संसार की नहीं, नासमझ इसे निरर्थक समझ बैठता है। माया, धोखा कहते-कहते महाज्ञानी भी चल बसे किन्तु विश्व को माया तथा धोखा समझना भी मायाजाल है, धोखा है। बच्चे को खिलौने से वंचित करने वाली माता भी ऐसा ही कहती है - देख बच्चे यह खिलौना अच्छा नहीं, गन्दा है। मैं तुझे इससे बहुत बढ़िया खिलौना दूँगी। इसे छोड़। असमर्थता, विवशता, अर्थहीनता, उस माता से ऐसा कहलवाती है। मुक्ति और स्वर्ग की बातों का प्रलोभन देते हुए ये महापुरुष, महाज्ञानी भी इस धरा-धाम से विलीन हो गये, किन्तु विश्व तो खिलौना है विनोदियों के लिये माया धोखा नहीं। खेलो और खूब खेलो, इसे (विश्व को) खिलौना समझते हुए। माया, धोखा के चक्कर में

न पड़ो। विधाता ने तुम्हारे लिये यह कैसा सुन्दर खिलौना बनाया है किन्तु खेलते-खेलते अपने को न भूलो, अपने घर को न भूलो, प्रभु को न भूलो, निरर्थक विचारों के झूले में न झूलो, किसी की बात सुन अभिमान में न फूलो। तुम्हें खेलना है, खेल का खेल देखना है। जब जीवन संध्या आयेगी तो माता स्वयं तुम्हें बुलायेगी, जिसे साधारणजन मृत्यु कहकर तुम्हें भयभीत करते हैं। तुम अभय की सन्तान हो, तुम्हारे लिये त्रिलोक में भय नहीं।

खेलने के लिये आने वाले बच्चे यदि भय से ग्रसित हो जाय तो खेल में आनन्द कहाँ ? माया, धोखावालों ने इसे (विश्व को) निरर्थक समझा। उनके मतावलम्बियों को समझने दो। तुम्हें खेलना है, खेल का आनन्द लेना, मनोरञ्जन करना है, तुम क्यों भयभीत ? खेल से थकने के पूर्व ही माता तुम्हें बुलायेगी, खुशियाँ मनायेगी मेरा बच्चा इन धर्मवालों के चक्कर में न फँसा। यह तो विनोद के लिये गया था और खेल का मोद लेकर आया। ये उपदेशक हैं, उपदेश वासी हैं, देश वासी नहीं, जहाँ माता अपने बच्चे को भेजती है उपदेश में, खेलने के लिये, मन बहलाने के लिये, कष्ट देने के लिये नहीं।

कलियाँ खिलेंगी, ऐसा विश्वास है, खेल होता रहेगा ऐसा विश्वास है। धर्म, कर्म की बातें करने वाले बातों में ही रह जायेंगे और खेलने वाले खेलते-खेलते माता को आनन्द पहुँचायेंगे। माता प्रसन्न है कि उसका बच्चा खेल रहा है, मस्त हो रहा है, त्रस्त नहीं। त्रस्त तो वह न होगा, जो यह समझेगा कि अच्छी आफत में फँसा, जहाँ कष्ट, भय के

अतिरिक्त कुछ भी नहीं। यह उपदेश नहीं, हृदय की कली खिलाने का मार्ग है।

संत्रस्त और भयभीत हृदय की कली न खिला सकेगा, उसका भय उसे सदा डराता रहेगा। दुष्ट बालक की तरह सदा उपद्रव करता रहेगा तथा द्रव्य का दुरुपयोग करता रहेगा। सत्यता आनन्द में है, मायावाद में नहीं। आनन्द के लिये आने वाला बालक खेलेगा या अपने भाग्य को कोसेगा ? **आनन्द ही महान, क्यों होता यों ही परेशान।** दुनिया ने अनेक देखे खेल किन्तु इसके खेल को देखने वाले को यह सदा आनन्द ही लुटाती रही। अनन्त है इसके (दुनिया के) आनन्द का भण्डार क्योंकि अनन्त ने इसे दिया है, अनन्त आनन्द का भण्डार, फिर अभाव कहाँ ? वह क्या करे, जब मनुष्य ही समझ बैठा है इसे धोखे की टट्टी। धोखा तो इसी बात का है कि खेल के लिये आने वाले बालक ने अपनी बुद्धि से काम न लिया और आ गया इन उपदेशकों के चक्कर में।

पुरानी दुनिया नये-नये वाद और प्रतिवाद तो देखे, किन्तु इसके खेल से आनन्द उठानेवाले बहुत कम देखे। जो आया वही इसे भला-बुरा कहने लगा किन्तु यह नहीं समझ पाया कि इसे भला-बुरा कहने से क्या लाभ ? खेलने वाला खेलता क्यों नहीं, खेल देखता क्यों नहीं ? यह सृष्टि तो ज्यों की त्यों है। युग कह कर निन्दा स्तुति से क्या लाभ ? खेलो और खेल देखो, अन्य जन कैसे खेल रहे हैं या अब भी इसे गाली देने में लगे हैं। गाली देने में परमार्थ नहीं, खेलने में है। समय उपयोगिक बातों को सत्य मान बैठना भ्रामक है।



भ्रम की गति अति तीव्र। सत्य में परिवर्तन नहीं-परिवर्तन भ्रम में है। भ्रम के परिवर्तन को मनुष्य सत्य के आधार पर ही जान सकेगा। सत्य का प्रकाश सर्वत्र विद्यमान, फिर भी मनुष्य अन्ध परम्परा का ही अनुसरण करता आ रहा है, दुःखित तथा चिन्तित रहना उसने अपना स्वभाव बना रखा है। आनन्द का आभास उसके लिये दुर्लभ हो रहा है। **चिन्तित व्यक्ति निश्चिन्त होता यदि वह सत्य मार्ग का अवलम्बन करता।** संसार में प्रसारित भ्रांत धारणायें उसे कभी भयभीत करतीं तथा कभी सत्य ही प्रतीत होती। ऐसी अवस्था उसे निश्चिन्त नहीं होने देती। युग धर्म, युग की माँग है या मनोविकार यह समझ पाना भी आसान नहीं। आज की माँग कल दूसरा रूप धारण कर लेती है तथा माँग ज्यों की त्यों बनी रहती है। माँगता है मनुष्य अन्य मनुष्य से जो स्वार्थान्ध है। माँग पूरी करने वाला तो कोई और ही है जिससे वह न माँग कर अन्य मनुष्य का ही मुखापेक्षी बना हुआ है। अर्थ लोभी से अर्थ प्राप्त करने की आशा रखना दुराशा मात्र है। यह तो रोगी से स्वास्थ्य लाभ की आशा रखने की तरह है। रोगी स्वयं ही रोग से ग्रसित है वह भला स्वास्थ्य प्रदान कब कर सकेगा ? किन्तु मनुष्य की बालू से तेल निकालने की चेष्टा आज भी बनी हुई है। कली का सींचन न बालू से होगा न तेल से, उसे चाहिये निर्मल नीर जिसका प्रदाता होगा भक्त हृदय जो सर्वदा प्रभु मिलन के लिये वियोग नीर बहाया करता है।

विचित्र है यह संसार, जहाँ आदान-प्रदान की प्रधानता रहते हुए भी उचित पात्र की उपेक्षा ही देखी जाती है, अपेक्षा नहीं। यह उपेक्षा ही उसके मानसिक क्लेश का कारण बन जाती है जो बनती है तो जाती नहीं। जाते हैं प्राण, जो व्याकुल हो रहे हैं सांसारिक व्यवहारों से जो हार

पहनाते नहीं हार (पराजय) का कारण बन जाते हैं। कारण खोजते-खोजते मनुष्य कारण को भूल, रण करने को उद्यत् हो जाता है। हृदय की कली व्याकुल। वह रण नहीं चाहती शरण चाहती है, रक्षा की प्रार्थी है, विकास की इच्छुक है अन्यथा उसे पुनः शरीर धारण करना पड़ेगा तथा रण से मुक्त न हो सकेगी। रज, तम के चक्र का दुष्परिणाम तो वह सदा देखती आई सत् और सत्य को पाकर वह निहाल होना चाहती है। द्वन्द्व और दुनिया ने उसे परेशान ही नहीं किया बल्कि उसकी अवस्था शोचनीय हो गई। मानव तन पाकर भी दानवता का दास बनना पड़ा यह तो दुर्भाग्य ही है। दीपक प्रकाश के लिये है, अन्धकार का सहयोग उसके प्रकाश के लिये घातक न होगा। सूर्य की किरण, चन्द्र के शीतल चरण, हृदय की जलन दूर करने में समर्थ। असमर्थ के लिये समर्थ साथी आवश्यक है किन्तु जहाँ आवश्यकताएँ एक नहीं अनेक हैं ऐसे संसार में कली की पुकार कौन सुने ? पुकार यदि सच्ची है तो सत्य तथा सत्य का उपासक अवश्य ही उसका सहायक है अन्यथा लोक, परलोक, धर्म, अधर्म, कर्म, अकर्म की वार्त्ता ही निरर्थक हो जाती किन्तु क्रम में व्यतिक्रम नहीं।

यह तो मनुष्य का अविश्वास है जो उसे चिन्तित बनाये रखता है। चिन्ता वह अग्नि है जो हृदय की कली को खिलाने नहीं देती। मनुष्य का शरीर जलाया जाता है मृत्यु के पश्चात् किन्तु चिन्ता की दाहकता का पता प्रत्येक क्षण परिलक्षित होता है। जीवन के लक्ष्य को भूल 'भू' पर वास करने में जीवन की सफलता समझ बैठा है उसके हृदय की कली क्यों कर खिलेगी ? कलियाँ खिलाने के लिये आईं किन्तु खिल न सकीं, मिल न सकीं उस मालिक से जो छद्मवेश में सर्वत्र व्याप्त है। माँ की लीक पर चलता तो माँ को भी पाता तथा मालिक को भी किन्तु माँ के स्थान पर

माया को ही माँ समझे, मालिक समझे, ऐसे अबोध प्राणी के हृदय की कली कैसे खिले ? माँ ही मालिक, जिसने अपनी संतान को संसार रूपी खिलौना खेलने के लिये दिया। खिलौना कष्ट दायक होता तो उसे खिलौने की संज्ञा क्यों दी जाती ? **खिलौना है-खेलो न, खिलो न, मिलो न, चिन्तित क्यों ?**

काल, अकाल, विकराल का चक्र, महाकाल की महिमा, साधारण जन क्या महाज्ञानी भी समझ न पाये। काल एक ओर समय की ओर संकेत करता है तथा दूसरी ओर मृत्यु का। बीता समय काल के मुख में प्रविष्ट होता है तथा यह क्रिया अनवरत होती रहती है। भोला प्राणी यदि समय को (काल को) शुभ चिन्तन अथवा मंगलमय कर्म में लगा सका तो हृदय की व्याकुलता कुछ शान्त अन्यथा क्लान्त हो जाती है। कालातीत होने की अवस्था का वर्णन भी कुछ महापुरुषों ने किया है। किन्तु वर्णन सरल हो सकता है, अवस्था तब तक नहीं हो पाती जब तक की हृदय की कली नहीं खिल पाती।

खिलना और पाना ये दो अवस्थाएँ हैं जो शब्दातीत हैं। शब्द संकेत मात्र है और अवस्था स्थिति है। जहाँ स्थिति है वहाँ काल की चाल पराजित तथा काल की दाल नहीं गलती। **काल विकराल उनके लिये जो शुद्ध प्रकृति के विपरीत कार्य में रत हैं।** प्रत्येक क्षण प्रतीक्षा नहीं करता प्राणी की, क्षण व्यतीत हो रहा है, आयु वायु में व्यतीत हो रही है, अतीत के इतिहास से मनुष्य यदि शिक्षा ग्रहण कर किसी शुभ कर्म में लग पाया तो काल सार्थक अन्यथा काल का भय बना रहता है। कालातीत होना, अमरत्व प्राप्त करना है। अमर भाव है जिसके अभाव में मनुष्य

मृत्यु से भयभीत रहता है। कल्पना जब साकार होती है मनुष्य जान पाता है कि कल्पना निरर्थक न थी यदि निरर्थक होती तो साकार न होती। प्राचीन काल के ऋषि, मुनियों ने अनेक कल्पनाएँ कीं तथा साधना एवं स्व-चिन्तन के द्वारा उन कल्पनाओं में कुछ को सत्य माना। सत्य माना ही नहीं सत्य करके दिखलाया अर्थात् प्रमाणित किया गति विधि द्वारा।

सत्य का उपासक उपासना द्वारा सत्य में समा जाता है, कालातीत हो जाता है। समय अतीत हुआ (बीत गया) काल (मृत्यु का भाव) कहाँ अतीत हुआ ? मृत्यु का भाव भी अतीत होता है उनके लिये जिन्होंने सत्य को जाना है, पहिचाना है। ये कलियाँ भी तभी खिलती हैं जब कि सत्य की उपासिका बनती हैं। माली का उद्यान कलियों से परिपूर्ण किन्तु इन कलियों का खिलना, माली की कृपा पर अवलम्बित है। ये कलियाँ संख्या में अनेक किन्तु एक के परिचय के अभाव में मुरझाती हैं, विलीन हो जाती हैं। लीन हो जातीं एक में तो विलीन होने के पूर्व खिल उठतीं। आगमन सार्थक होता, प्रस्थान सुखद।

आये अवतारी जिनकी आज भी महिमा गाई जाती है। आये संत जिन्होंने सत्य की उपलब्धि में सब प्रकार के कष्ट सहन किये। सन्तों ने सत्य प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त किया। कलियाँ खिली सन्तों के उपदेश से। अवतारवादी लीला देखने में ही लगे रहे। पाप पुण्य की कथायें ही उनके लिये प्रधान थी। धर्म कर्म के ग्रन्थ तो पढ़े किन्तु आचरण उनके लिये सरल न हुआ। सन्तों ने हृदय स्थित प्रभु की आरती आर्त्त होकर न उतारी, समर्पण किया निरर्थक आवेश, पाया अपने रूप को जिसके आलोक से त्रिलोक प्रकाशित हो गया।

**असम्भव यह कार्य उनके लिये है जिनके लिये असम भव है। भव भाव का पोषक था और है जिन्हें भाव प्रिय है।** अभाव अनुभव करने वाले व्यक्ति की हृदय कली मुरझाती ही रहती है, खिलती नहीं। अभाव वाला कर्म के लिये व्याकुल है, प्राप्ति के लिये अधीर। अधीर कभी वीर नहीं होता। उसका हृदय शंका, सन्देह से आक्रान्त। जहाँ आक्रान्त, वहाँ शान्त भाव दुर्लभ। ये कलियाँ खिलती हैं भाव से, समर्पण से, हृदय के उल्लास से। उल्लास का अभाव जीवित लाश बना देता है तन को, मन को। तलाश करता अपने आत्म देव को तो लाश, लाश न रहती हास, विलास में जीवन का प्रत्येक क्षण व्यतीत होता। अतीत होता काल जिसके गाल में अभाव ग्रसित चले जा रहे हैं।

शोक नहीं, चिन्तन का विषय है कि कब खिलेंगी ये कलियाँ ? कलियाँ खिलेंगी जब बसन्त आता है जब वह सन्त आता है जिसके जीवन का ध्येय समर्पण है जिसके हृदय में प्रेम की गंगा अहर्निश किल्लोल करती है, जिसने मानवीय दुर्बलता को सबल बनाया अपने मानसिक बल से। आत्मदेव बलदेव है। ये कलियाँ पुष्प रूप में परिवर्तित हो आत्मदेव बलदेव को समर्पित होंगी।

\*\*\*

## क्या दूँ ?

आदान और प्रदान में कौन महान ? यदि प्रदान की प्रशंसा की जाये तो अभिमान सम्मुख आता है और यह कहना भी उचित नहीं कि क्या दूँ। किन्तु यह लेन-देन का क्रम तो चला आ रहा है अनादि काल से।

प्रदाता से प्राप्त हुआ तो प्राणी स्वयं को प्रदाता कहलाने में गौरव अनुभव करने लगा। गौरव उसका है जिसने सर्वस्व प्रदान कर प्रकट न किया कि प्रदाता मैं हूँ। जनक और जन में यही तो अन्तर है कि जन तो चाहता है उसके प्रदान की कीर्ति भूमण्डल में विख्यात हो और जनक प्रदान कर संकेत तक नहीं करता कि वह प्रदाता है।

ख्याति खा जाती है मनुष्य के हृदय की निर्मलता को, उदारता को, विशालता को। प्रतिष्ठा की कतिपय वैरागियों ने निन्दा की तथा उसे बाधक माना है सत्य-पथ पथिक के लिये। ठीक ही है प्रदाता को न जान मनुष्य अपने को ज्ञानी, महाज्ञानी समझ, प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिये अनेक वाक्-वितण्डावाद में ही संलग्न रहे तो ज्ञानी सत्य पथ से विचलित हो जाता है तथा प्रतिष्ठा बाधक ही सिद्ध होती है।

प्रतिष्ठा मनुष्य की नहीं यह तो प्रदाता की है, जो अज्ञात रह कर मनुष्य को श्रद्धा तथा विश्वास का पात्र बनाता है। अभिमानी क्या देगा वह तो स्वयं प्रतिष्ठा का भूखा है। अहंकारी की भूख तब तक शान्त नहीं हो पाती, जब तक कि वह अहंकार को समर्पित नहीं करता अज्ञात प्रदाता के चरणों में। देना सरल नहीं उसके लिये जो प्रति मुहूर्त लेने की माला जपता

है। **देना तो पाना है** जिसे साधारण मनुष्य क्या विज्ञान भी नहीं समझ पाते। वे भाव जो मनुष्य को दिन-रात व्याकुल रखते हैं उन्हें भी मनुष्य अज्ञात महान को देना नहीं चाहता, श्रद्धा विश्वास की तो बात ही निराली है। यों तो विवश होकर एक दिन शरीर तक देना पड़ता है। किन्तु वह तो देना नहीं कहलाता वह तो विवशता है जो अनिवार्य है प्रत्येक प्राणी के लिए।

विवशता में आनन्द कहाँ तथा जहाँ देने में प्रसन्नता नहीं, वह देना कोई अर्थ नहीं रखता। लोकोक्ति है -“चमड़ी जाये, किन्तु दमड़ी न जाये” इस उक्ति के समर्थक भू भार ही होते हैं। जीवन का रस ऐसे मनुष्य ले नहीं पाते। उनका अर्थ संग्रह, मन के विग्रह तथा तन के निग्रह का कारण बन जाता है। कुछ लोग ऐसा भी कहते हैं कि अर्थ सञ्चय में कृपण को यदि आनन्द न आता तो वह तन, मन को कष्ट क्यों देता ? वह तो एक प्रकार का योगी है, त्यागी है जो सांसारिक सुखों की उपेक्षा करता हुआ अर्थ सञ्चय में ही लगा रहता है। इस दृष्टिकोण की प्रशंसा तो नहीं की जा सकती, किन्तु ऐसे व्यक्ति को न मनुष्य पर विश्वास होता है और न विधाता पर। विश्वास के अभाव में मनुष्य का हृदय संकीर्ण हो जाता है तथा संग्रह ही उसके लिये दुष्ट ग्रह का कार्य करता है।

कृपण की निन्दा, स्तुति के लिये ये पंक्तियाँ लिखी नहीं गई हैं आलोच्य विषय तो “क्या दूँ” है। देना यदि मृत्यु तुल्य प्रतीत होता है तो लेने के लिये ऐसी आतुरता क्यों ? क्या लेना तथा क्या देना के लिये एक नीतिज्ञ भक्त का कथन है - “लेने को हरि नाम है, देने को अन्न दान”। हरि नाम लेना यदि सरल होता है तो सभी न हरि का नाम लेते, किन्तु

ऐसा होता कहाँ है ? हरि को माने तथा जाने तो यह लेन-देन का कार्य इतना प्रधान न प्रतीत होता।

विराट विश्व में अनेक विचार तथा भाव हैं किन्तु उत्तम विचार, भाव के लिये उत्तम पुरुषों के समीप बैठ, शान्त चित्त से उन्हें ग्रहण करना भी आवश्यक है। सांसारिक व्यक्ति तो सभी प्राणी हैं, किन्तु कुछ ऐसे भी प्राणी हैं जो इस लोक को हेय न समझते हुए परलोक की ओर भी ध्यान रखते हैं तथा इस लोक को भी सुन्दर तथा शान्तिमय बनाने के लिये सतत् प्रयत्नशील रहते हैं। ऐसे ही व्यक्ति संसार सागर को संतरण कर पाते हैं।

संतरण क्या है ? सन्त भी रण करते हैं, उक्लण होते हैं, ऋण से जो उन्होंने लिया था सृष्टिकर्ता से मानव तन के रूप में। रूप धारण कर रण किया उन विषय वासनाओं से जो साधारण जन को त्रसित तथा मोहित करते हैं। त्रसित भी करते हैं तथा मोहित भी, यही तो आश्चर्यजनक है। अप्राप्त अवस्था में त्रसित तथा प्राप्त करने के लिये मोहित। यदि प्राप्त भी हुए वासना, विषय तो भी मनुष्य भयभीत होता रहता है कि कहीं इनका वियोग न हो जाये। कैसी विडम्बना है जीवन की, जहाँ किसी भी अवस्था में शान्ति नहीं, तृप्ति नहीं। तृप्ति प्राप्त करता है सन्त, उसे तो संतरण करना है भवसागर को। साधारण जन मध्य में (भवसागर के) डूब मरते हैं, सन्त संतरण करता है क्योंकि वह कर्ता को जानता है, पहिचानता है।

अन्य जन भूले-भटके नाम लेता है कर्ता का, जिसे वह जानता नहीं केवल सुनता आया है कि कोई कर्ता है विश्व का, जिसे वह पुकारता है राम के नाम से, श्याम के नाम से। पुकारना सार्थक होता यदि वह केवल



अर्थ के लिये ही उसे न पुकारता। जान-पहचान के पूर्व पुकारना केवल पुकारना मात्र है, सार्थक होता है जान-पहचान के पश्चात्। पश्चात्ताप करेगा जीवन की अन्तिम घड़ियों में कि मैंने उसे क्यों न जाना, क्यों न माना ?

“क्या दूँ”-मैं अकिंचन हूँ, असहाय हूँ, अनाथ हूँ, अपराधी हूँ, अबोध हूँ, अज्ञानी हूँ, अधम हूँ, अनाधिकारी हूँ, अपात्र हूँ, अल्पज्ञ हूँ, अपंग हूँ, अचेष्ट हूँ, अविश्वासी हूँ, किन्तु तेरा हूँ, यह भक्त कहता है। ज्ञानी कहता है - मैं असंग हूँ, अभेद हूँ, अभय हूँ, अमर हूँ, अविनाशी हूँ, अचिन्त्य हूँ, असीम हूँ, अनन्त हूँ, अभंग हूँ, अखण्ड हूँ, अजर हूँ, अपौरुषेय हूँ, अनुपम हूँ, मुझमें तुझमें अन्तर कहाँ, फिर क्या दूँ ? आर्त्त कहता है मैं स्वयं कष्ट में पड़ा हूँ तुम्हें क्या दूँ ? जिज्ञासु कहता है - मैं समझ ही नहीं पाता कि तुम्हें क्या दूँ ? मैं तो जिज्ञासु हूँ, अर्थार्थी कहता है अर्थ के लिये तुम्हें पुकारता हूँ, मुझे अर्थ दो, मैं तुम्हें क्या दूँ ? भाव योगी कहता है - ले, ले, जो तुझे पसन्द हो। अब कहना क्या और सुनना क्या ? देनेवाला ही महान तैने दिया और मैंने लिया, यह तेरा-मेरा चिर शाश्वत् सम्पर्क है। यदि मुझे भी महान में सम्मिलित करना है तो दिल खोल कर ले, यहाँ तेरे सिवा और कुछ न मिलेगा। ले ले, तेरा दिया रूप, रंग, भाव, अभाव कि चिन्ता न रहे इहलोक, परलोक की। यह कहकर भी सन्तुष्ट न हुआ भाव योगी।

योग अनेक, किन्तु भावयोगी ? बहुत कम । क्यों ? भाव सबको कहाँ प्राप्त ? भक्ति ही अति अल्प को प्राप्त होती है, भाव तो अल्पातिअल्प को ही प्रदान किया जाता है। भाव वाला कभी प्रेमाकुल, कभी स्वयं में लीन। कभी अटपटी बातें कहता, कभी गूढ़ातिगूढ़। लोग

उसे पागल ही कहते हैं। उसका पागलपन भी अनोखा होता है। वस्तु तथा पदार्थ का वह अभिलाषी नहीं। अन्तःकरण की चारों वृत्तियों का प्रभाव उस पर देखा नहीं जाता। विलक्षण है उसकी अनुभूति, जहाँ साकार-निराकार का प्रश्न नहीं। स्वयं में मस्त, स्वयं में पूर्ण। कभी कहता है क्या दूँ, कभी कहता है क्या लूँ ? कभी कहता है यह लेन-देन कैसा ? तू मुझसे पृथक नहीं तो ये लेन-देन कैसा ? यह तो अन्य भक्तों के लिये है, जिन्हें तुमने चार विभागों में विभक्त कर रखा है। यहाँ तो भाव है, पसन्द है तो ले, अन्यथा स्वयं का स्वयंवर है, निर्वाचन नहीं, अर्चन है, वन्दन है स्वयं का। मूर्ति बनाकर पूजूँ, संसार को दिखलाऊँ कि मैं भक्त हूँ। मैं हूँ, भक्त हूँ यह कहते मेरा कंठ अवरुद्ध होता है। तू मेरा है यह भी कहते नहीं बनता। तू क्या है और मैं क्या हूँ। यह 'तुम' में छिपा हुआ है जिसे तम आवृत्त वृत्तियाँ समझ नहीं पाती। तू महान प्रिय के लिये लघु रूप में आया "मैं" की मात्रा अन्तर निहित हुई तु-म तुम बना। यह रहस्य भी रस बन जाता है भाव योगी के लिये। तुमको भजना तो स्वयं का ही भजन है। विद्या नहीं, बुद्धि नहीं, हैं अटपटी बातें, जिन्हें सुनकर कुछ हँसते हैं कुछ आश्चर्य करते हैं। किसका अभिमान जब भान ही नहीं, तू का मैं का। योगी योग में लगे, भाव योगी तो बह गया भाव में। अब लेन-देन की कथा कौन कहे ?

“क्या दूँ” का प्रश्न कुछ जटिल है। प्राणी प्राण प्राप्त करता है प्राणदाता से। यदि वह प्राण भी अर्पित कर दे प्राणदाता को, तब भी देना कहाँ लौटाना ही कहलायेगा। प्राणों में बसाले दाता को वह कार्य भी सरल नहीं। सद्गुरु की कृपा यदि प्राप्त हो तो यह सम्भव हो सकता है, किन्तु स्वार्थी संसार में सद्गुरु का दर्शन ही दुर्लभ। जहाँ उपदेशक ही अनेक हैं वहाँ सद्गुरु कहलाने वाले मिल सकते हैं। सच्चा सद्गुरु प्राप्त होने में

अनेक जन्मों की साधना ही सहायक हो सकती है। अनेक जन्म की मान्यता भी सभी धर्मों में नहीं पाई जाती। धर्मों में पाई जाती हो या न पाई जाती हो, किन्तु यह तो सभी धर्मों में पाया जाता है कि तुम्हें “क्या दूँ”। कहना तो सरल है, किन्तु देना तो कष्टकर प्रतीत होता है। खून देना तो सरल नहीं, नाखून देना भी मनुष्य नहीं चाहता। चाहता है लेना जिसके लिये अनेक प्रार्थनाएँ मनुष्य ने रच रखी हैं। लेना प्रिय है किन्तु देना तो अप्रिय ही नहीं, चाहता ही नहीं। जिसे न चाहे फिर देने का प्रश्न ही कहाँ रहता है ? रहता है लेना, जिसे वह जीवन भर दोहराता रहता है मधुर शब्दों में। प्रशंसा सुनाकर मनुष्य मनुष्य से कुछ प्राप्त करने की आशा करता है और इसी आशा से प्रेरित होकर मनुष्य केवल लेने के ही गीत गाता रहता है, देने के नहीं। देने में गीतों की आवश्यकता ही कहाँ ? किन्तु देना तो वह चाहता ही नहीं।

शीर्षक “क्या दूँ” भी किसी पागल की सूझ होगी। पागल की भी कभी सूझ हुआ करती है ? संसार की दृष्टि में जो पागल होता है उसमें कुछ सूझ बूझ होती है। संसार कहता है-तू तो लेने के लिये आया है, देने के लिये नहीं। तू देने की बातें करता है इसीलिये तो पागल है। पागल यदि इन सांसारिक लोगों की बात मान ले तो वह पागल ही क्यों कहलायेगा ? नहीं मानता इसीलिये तो पागल है। बात भी यथार्थ है। न माने तो पागल, किन्तु वह दुनिया की मान्यता को ही प्रधानता देता तो पागल नाम ही न होता। मानता नहीं, उसका दिल मानता नहीं, दिमाग मानता नहीं सांसारिक मान्यता को। कभी दिल से पूछता है कभी दिमाग से कि क्या दूँ। कौन उत्तर दे ? सभी मौन, सभी चुप। देना है, उसे देना है, यही भाव उसे पागल बनाये रखता है। उसने लिया है मानव तन प्रदाता की कृपा से। ऋण से उऋण होना चाहता है। उसे एक ही चाह है कि दूँ तो क्या दूँ ?

चाह के लिये एक कवि ने कहा था - “चाह नहीं तिन्हें स्वर्ग हूँ की जिनको तव कीरति प्यारी है।” उसकी कीर्ति और प्यार ने ही तो उसे पागल बनाया और यह चाह ही उसे बार-बार विकल कर देती है। वे भी भक्त थे जिन्हें दर्शन की चाह थी, वे भी भक्त थे जो अरुपी के रूप में ही समा गये किन्तु यह भक्त है कि क्या है यह कहना तो कठिन है जो देने के लिये पागल हैं। ‘क्या दूँ’ क्या दूँ ने उसे पागल बना रखा है। अच्छा तमाशा है दुनिया के लोग लेने के फेर में हैं और यह देने के। पागलों से क्या लेना और क्या देना ? लेन-देन का काम तो समझदारों से किया जाता है जो समझ के बोझ से दबे जा रहे हैं, जिनका दिल समझ के कारण भाराक्रान्त है। समझ ने जिन्हें अहंकारी बना रखा है, जो कल के लिये विकल हैं आज का आनन्द जो समझ नहीं पाते और समझदार बने घूमते हैं अनेक जन्मों के चक्कर में। उपदेशक ले नहीं रहा है उपदेश दे रहा है। है न यह विडम्बना। देना है (उपदेश) लेने के लिये कीर्ति, सम्मान, धन। और यह पागल बार-बार कहता है क्या दूँ ? लेने के लिये नहीं, देने के लिये।

उपदेश देने का अधिकारी तुझे किसने बनाया, उपदेशक ! पुस्तकों ने या सृष्टि नियन्ता ने ? समझदार न है, कहेगा परिश्रम किया है, लगन से विद्या पढ़ी है तो क्या उपदेश भी न दूँ और अधिक समझदार होगा तो कहेगा-सब उसकी माया है उसी ने मुझे उपदेशक बनाया है। पागल क्यों उस उपदेशक से वाद-विवाद करेगा क्योंकि उसने तो वे पुस्तकें पढ़ी नहीं जिनके बल पर उपदेशक अपना अधिकार जताता है। उसने तो अपना दिल देखा है वह भी किसी की कृपा के फलस्वरूप। उसके पास अहंकार करने को तथा अधिकार जताने को कुछ भी नहीं। किसी की कृपा का आधार पाकर वह नम्र शब्दों में प्रदाता से जिज्ञासा कर रहा है कि तुम्हें क्या दूँ। प्रदाता मुस्कुराता है पागल की जिज्ञासा पर। जिज्ञासु बना कर भेजा, ज्ञान प्रदान

करवाया उसे (पागल को) सद्गुरु के द्वारा। अपनी देख-रेख में रखा। जहाँ कहीं भ्रम भी हुआ, निवारण करवाया सद्गुरु के द्वारा उस पागल से वह (प्रदाता) क्या ले, समझ नहीं पाता।

अवतारी को उसने (प्रदाता ने) विशेष पराक्रम दिया। सांसारिक लोग आश्चर्यचकित हो अवतारी को ही समझ बैठे प्रदाता। प्रदाता मुस्कुरा रहा था। पागल को उसने पागलपन दिया। न उसे आर्त्त बनाया और न अर्थार्थी। अतः पागल जिज्ञासु का भाव ले चला आया संसार में। न उसने संसार को बुरा कहा और न पाप-पुण्य की बातों को अपनाया। वह जिज्ञासा करता रहा ये धार्मिक कहलाने वाले संसार की निन्दा क्यों करते हैं उस प्रदाता के प्रदान को ये क्यों तुच्छ मानते ? स्वच्छ को तुच्छ मानना तो प्रदाता का अपमान है, अपनी अल्प बुद्धि का अभिमान है। किन्तु सांसारिक लोग अधिकतर लकीर के फकीर होते हैं वे पागल की बातों पर ध्यान न देते हुए उसकी अवहेलना करने लगे। पागल तो था ही वह क्यों मानापमान के चक्कर में फँसने लगा। जिज्ञासा जब अति तीव्र हुई तो प्रदाता की कृपा से उसे सद्गुरुके दर्शन हुए। सद्गुरुने उसे ज्ञान की ज्योति का पथ प्रदर्शित किया। ज्ञान ने उसे ज्ञान तो दिया किन्तु वह भाव न दिया जिसे पाकर सभी अभाव रहते हुए भी अभाव उसे प्रभावित न कर सके। अब वह भाव का उपासक हो गया। जिज्ञासा, ज्ञान की यदा कदा बात तो वह पागल करता किन्तु अब वह भाव में ही अधिक रहने लगा। यह भी उस प्रदाता की कृपा का ही फल था।

पागल कह उठता तुमने मुझे इतना दिया। अब मैं पागल तुम्हें क्या दूँ ? प्राणों पर तुम्हारा अधिकार तुम्हारे ही तो दिये हुए हैं। बुद्धि मुझमें है नहीं जिसे दुनिया कहती है, मन तुम्हारे चरणों में लगा हुआ है। अब

तुम्हीं बताओ कि तुम्हें क्या दूँ ? पागल की बात पागल ही समझेंगे क्योंकि बुद्धिमानों की बातें तो पुस्तकों की हैं और पागल की बात हृदय की, जहाँ बुद्धि के बस की बात नहीं। अब भी पागल अपने को असमर्थ समझता हुआ कहता है कि क्या दूँ, तुम्हें क्या दूँ ? असमर्थ है वह प्रदाता के सम्मुख। निरभिमानी के लिये अभिमान की भावना ही कहाँ रहती है ? भावुक, पागल भावुक को उसके अन्तर्धान के पश्चात् उसे सर्व शक्तिमान समझे दुनियाँ। किन्तु यह न तो उसने दावा किया और न समझा। यदि वह ऐसा समझता तो न उसका भाव रहता और न पागलपन। वही तो उसका धन था उसे खोकर वह कहीं का न रहेगा।

प्रकृति ने दिया, पुरुष को प्राणी को, जड़ को चेतन को आनन्द। यदि प्राणी आनन्द में विभोर न हो सके तो प्रकृति का क्या दोष ? नक्षत्रों से सुसज्जित रजनी ने स्वयं आनन्द उठाया तथा नक्षत्रों की कामना पूर्ण की। अभागा प्राणी कामना का पूर्णत्व न देख पाया और न समझ पाया तो कामना को दोषी ठहराना कहाँ तक उचित है ? समुद्र की उत्ताल तरंगों ने उत्थान भी देखा, पतन भी। तरंगे समुद्र में ही समायीं, विलग न हुईं। मनुष्य ने यह देखते हुए भी शिक्षा ग्रहण न की, असफलता के लिए आठ-आठ आँसू बहाये तथा सफलता पर फूला न समाया। ये तो प्रकृति के खेल हैं जिन्हें न समझ मनुष्य सदा भाग्य को कोसता रहा, आनन्द न उठाया।

जो आनन्दी नहीं वह कब कह सका कि क्या दूँ ? आनन्द धाम का अधिवासी मृत्युलोक में आया है आनन्द बरसाने के लिये किन्तु जो पदार्थ के लिये विलाप कर रहा है, पद और अर्थ के लिये क्रन्दन कर रहा है, वह जीवन का अर्थ क्या समझे क्या जाने ? पद पाना है प्रदाता का तभी तो उसका जीवन धन्य अन्यथा आवागमन ही निरर्थक रहा। क्या दूँ ? आनन्द

दूँ प्रदाता की सृष्टि को, भाव से वाणी से तभी तो मृत्युलोक के प्राणी मृत्यु को भूल इस लोक को अमरलोक बना सकेंगे।

पृथ्वी पर स्वर्गीय राज्य की स्थापना की कुछ व्यक्तियों ने तथा धर्म के प्रवर्तकों ने घोषणा की, सफल कब होगी यह प्रभु ही जाने। भावुक पागल घोषणा नहीं करता और न उचित ही समझता है घोषण को। प्रदाता की कृपा ही सहायक होती है असम्भव को सम्भव बनाने में। क्या दूँ ? आनन्द दूँ तुम्हें, तुम आनन्द स्वरूप हो। यदि हाथी काम का है तो चींटी भी निरर्थक नहीं। एकता का जीता-जागता उदाहरण ये चींटियाँ है। उद्योग में रत, अथक परिश्रमी हैं ये चींटियाँ। और यह हाथी जो स्नान करवाने के पश्चात् भी शरीर पर धूलि डाल कर प्रसन्न होता है उसकी प्रशंसा की जाये कि निन्दा, यह क्यों कहा जाये बुद्धिमान ही इसका उत्तर देंगे। मनुष्य ने भी हाथी को ही अपना आदर्श मान रखा है, ज्ञात-अज्ञात से। पश्चाताप, चिन्ता, मोह, कामुकता ये विचारों की धूलि नहीं तो और क्या है ? सत्संग से कोसों दूर रहने वाला व्यक्ति सत्य की अवहेलना ही करता है। सच्चिदानन्द की सन्तान आनन्द का मूल्य न समझे तो लज्जा जनक जीवन है।

**जीवन आनन्द का श्रोत है जिसके कण-कण में आनन्द ही आनन्द है** मनुष्य समझे या न समझे। क्या दूँ का कथन समाप्त होने वाला नहीं। क्या दूँ और क्या लूँ - ये ही जीवन को सरस तथा नीरस करते आये हैं। नीरस जीवन अभिशाप और सरस जीवन मधुर आलाप प्रदाता से। प्रदाता को आनन्द महा-समुद्र भी कहें तो प्रदाता को सीमित करना है। क्षीर सागरवासी आनन्द मग्न रहे और उसकी सन्तान एक बिन्दु क्षीर (आनन्द) के अभाव में दुःखित, बुभुक्षित रहे ऐसा होता नहीं। आनन्द

लिया जाता है प्रत्येक क्षण से और क्षण में। **छन-छन कर प्रत्येक क्षण में आनन्द वर्षण हो रहा है।** मनुष्य न लक्ष करता है न लक्ष्य बनाता है भविष्य के लिये। निरर्थक चिन्ता का भार हार के रूप में धारण कर जल रहा है। सृष्टिकर्ता का श्रेष्ठ उपहार जीवन से हार मान कर चला जा रहा है जहाँ स्थूल की गति नहीं, जिस स्थूल की प्राप्ति के लिये मनुष्य बेचैन रहता था। आया था चैन की बंसी बजाने, चैन भी गया और बंसी बाँस का काम करने लगी। बंसी बजने के बजाय बजाने लगी मनुष्य की खोपड़ी-जो पड़ी थी, पड़ी ही रही, मनुष्य ने निरर्थक ही जीवन की अमूल्य घड़ियाँ खोईं। वाह रे सृष्टिकर्ता का प्रतिरूप क्या करने आया था और क्या हुआ।

क्या हुआ ? हुआ वैसा न हुआ जैसा वह चाहता था। प्रतिरूप ने न प्रीति की कर्ता से और न रूप पर मुग्ध हुआ और न रूप में समाया। वृथा ही अमूल्य समय बिताया। ऐसा व्यक्ति न कह सकेगा कि क्या दूँ ? यदि देगा भी तो उपालम्भ ही देगा कि तैने ऐसी दुनिया क्यों बनाई जहाँ जीवन भार रूप है, हार रूप नहीं, उपहार रूप नहीं। अबोध प्राणी सर्वज्ञ की कृपा न समझ सका। प्रकृति का आनन्द उपभोग न कर सका। रोग और शोक ने मूर्च्छित कर दिया अन्तर आत्मा के उल्लास को। क्यों आया और क्यों चला जब जीवन का मूल्य ही न कर पाया ? जीवन की अवधि सीमित भी, अनन्त भी। सीमित जीवन यदि अनन्त में लीन हो गया। परिवर्तन विचारों का यदि उत्तम लक्ष्य की ओर हो तो अन्य कलेवर धारण न करना पड़े। धावन यदि धन की ओर है तो उस धन को भी पहिचानना होगा और यदि धर्म की ओर तो उसे भी जानना होगा। कल्पित धन और धर्म कल्पना देगा, सुख दुःख का कारण बनेगा। जहाँ कारण है वहाँ कार्य भी होगा, आज नहीं तो कल। जीवन की कला का अध्ययन अति अल्प व्यक्ति ही कर पाते हैं। कला आज



जीविका उपार्जन के लिये सीखी जाती है। उपार्जन करेगा साधन द्वारा तभी न कह सकेगा कि क्या दूँ।

साधन और साधना का अन्तर जानना भी आवश्यक है। साधन द्वारा साधना का पथ प्रशस्त होता है। साधन रहते हुए भी व्यक्ति यदि साधना को न अपनाये तो साध्य की बातें ही बातें हैं प्राप्ति नहीं। प्राप्ति नहीं तो तृप्ति नहीं। तृप्ति नहीं तो क्या दूँ कहना निरर्थक। निरर्थक जीवन-जीवन नहीं। नहीं यदि हाँ में बदले तो निरर्थक सार्थक हो। सार्थक में स्वार्थ की अधिकता है तो वह भी निरर्थक। परमार्थ में सार्थक और निरर्थक दोनों का ही समन्वय निहित है। निहित में यदि हित न हो 'स्व' का या 'पर' का तो निहित केवल शब्द मात्र रह जायेगा। शब्द मात्र तो क्रिया का संचालन नहीं करता। संचालन में लगन आवश्यक है। लगन ही उसे मगन कर सकेगी। मगन होकर ही कह सकेगा कि तुम्हें क्या दूँ। यह है क्या दूँ का संक्षिप्त विवरण जो मानसिक रण, द्वन्द से मुक्त कर सकेगा।

\*\*\*

## ‘‘तेरा सौरभ’’

जगदाधार-सौरभ के लिये धरा का प्राणी आकुल-व्याकुल है। धारण किया प्राण, प्राणी कहलाया। प्राण सांसारिक गंध दुर्गन्ध के कारण शान्त नहीं हो पाता। आकुलता की लहर प्रवाहित हो रही है प्रत्येक क्षण। इसे हलचल कहा जाये या जीवन। जीवन ने अंग-प्रत्यंग में गतिशीलता का भाव दे रखा है। यह गतिशीलता प्राणों की है या प्रकृति की जो स्वयं जड़ होती हुई भी चेतन के प्राणों में गति का कारण बनती है। मानवीय प्रकृति ही कुछ ऐसी है जो सरल को रहस्यमय तथा रहस्य को केवल सरल ही नहीं, रसपूर्ण बना देती है। यह तेरा सौरभ है या तेरी प्रकृति का यह कहना बुद्धि हीनता का परिचायक है।

सौरभ को यदि नासिका का विषय मान लिया जाय तो सौरभ के महत्त्व को सीमित करना होगा। सौरभ नासिका के लिये अवश्य ही सुखकारक है किन्तु भाव का सौरभ तो मानव की रसना को अति मधुर तथा आनन्दवर्द्धक बना देता है। यदि ऐसा न होता तो तेरा जुलाहा भक्त वाणी के सौरभ के गीत न गाता तथा उसके मत के अनुयायी उसे (सौरभ को) प्राप्त करने के लिये साधन न अपनाते। वाणी का सौरभ तेरी अनुकम्पा का प्रसाद है।

प्रार्थी अनेक, प्राप्ति अति अल्प को। यह किसी कवि की कल्पना नहीं, साधक की साधना का फल है कि वह तेरा सौरभ पाकर अनेक जन्मों की साध पूर्ण कर पाता है। पूर्ण अपूर्ण के विवादस्पद विषय की आलोचना

वह व्यक्ति क्या करेगा जो स्वयं अपूर्ण है। पूर्ण को जान पाना भी पूर्ण की कृपा द्वारा ही सम्भव हो सकता है। सम भाव को ही मनुष्य हृदयंगम नहीं कर पाता वह सम्भव असम्भव के रहस्य को कब समझ पाता है ? पाता है समझ, जिसका अभिमान ही मूल को छोड़ पत्तों का वर्णन करने में लगा रहा उसे तेरे सौरभ का क्या पता ? “पत्ते-पत्ते पर मेरा पता, फिर भी पूछता है मेरा पता” यह सूक्ति ही संकेत करती है अनन्त की अनन्त महिमा को।

अनन्त कौन, तू या तेरी भावना ? तू है और तेरी भावना नहीं तो सौरभ, तेरा सौरभ प्राप्त करना बालू से तेल निकालने जैसा व्यर्थ प्रयास मात्र है। दुर्गन्ध से व्याकुल हुआ तो सौरभ की चाह हुई। चाह यदि तीव्र नहीं तो न राह प्राप्त और न राही। विषयों की गंध ही में मस्त हुआ प्राणी, तेरे सौरभ की बात ही सुनना नहीं चाहता। मछली की गंध मछुवे को सुलाती, वह पुष्पों की सुगंध में क्यों सोने लगा। विचित्र है यह संसार और उससे भी विचित्र है इस पर वास करने वाले।

वास, जब सुवास हो तो आनन्द आये वास (रहना) का। वासस्थान पूछने वाला व्यक्ति भूमि खंड को अपना वासस्थान समझता हुआ अन्य व्यक्ति से प्रश्न करता है किन्तु वासस्थान को न प्रश्नकर्ता जानता है और न उत्तरदाता। दाता को भी उत्तरदाता नहीं जानता, त्राता को भी नहीं पहिचानता उसका उत्तर सदा अपूर्ण रहता है। जहाँ शरीर रहता है, उसी को वासस्थान कहता है मनुष्य। आत्मा तथा मन का वासस्थान कहाँ है, यह आज भी उसके लिये पहेली बना हुआ है। अध्यात्म चिंतको ने चिंतन किया पहुँच के अनुसार, उन्होंने इस पहेली का समाधान भी किया। यथार्थ क्या है इसे अति अल्प ही जान पाये। जिन्होंने जाना वे प्रायः मौन ही रहे। वास

(सौरभ) वासस्थान का पता क्या पाये जब वास वह भी स्थूल वास (सौरभ) में ही मनुष्य लिप्त है।

वासस्थान (सौरभ का उद्गम) तथा वासस्थान (संसार में रहने का स्थान) दोनों में अन्तर है यह तो स्पष्ट है किन्तु जहाँ भक्त कहता है - “रहना नहीं, देश विराना है ” वहाँ पुनः प्रश्न उठता है कि वह कौन सा अन्य स्थान (वासस्थान) है जिसकी ओर भक्त का लक्ष्य है। शायद वह स्थान है जहाँ से वास का उद्गम होता है।

व्यक्ति प्रधानता धन को दे या कर्म को दे या सेवा आदि महान कार्यों को, किन्तु ये कार्य तो जलती हुई अग्नि पर कुछ छींटे डालने के सदृश्य हैं, अग्नि शांत होने की नहीं। चींटी की घ्राण शक्ति तीव्र होती है। शक्ति का आधार पाकर वह उसे प्राप्त करती है जिसके द्वारा उसकी क्षुधा शान्त होती है। मनुष्य में ग्रहण शक्ति तीव्र है। यदि उस शक्ति का उपयोग मनुष्य करता है तो उसे अलभ्य की भी प्राप्ति हो सकती है तथा होती भी है। तीव्रता का अभाव गति को मन्थर कर देता है। वह गूढ़ भाव को न जान, मूढ़ बना संसार में भ्रमण करता रहता है। भ्रमण भ्रम में हो तो रमण के आनन्द से मनुष्य वञ्चित रह जाता है। रहता है, जाता है, न भ्रमण से मुक्त होता है और न भ्रम से, वह सौरभ, तेरा सौरभ कब प्राप्त कर पाता है ?

देव आये, दानव आये, मनुष्य आये, अन्य प्राणी भी आये तेरा सौरभ प्रसारित करने के लिये किन्तु क्षमता किन में थी कि तेरा सौरभ फैला सके ? जिसे तुमने अपना प्रेम दिया, हृदय दिया, भावना दी, वह ही कुछ

अंशो में तुम्हारा गुणगान कर-धरा-धाम से विदा हुआ। अनुपम है तुम्हारा सौरभ जो अदृश्य रहते हुए भी प्राणों को ऐसा सौरभ प्रदान करता है कि सर्वत्र सौरभ ही सौरभ का आनन्द प्राप्त कर भूल बैठता है उस जगत को जो सम्मुख रहता हुआ भी प्रतीत नहीं होता।

तेरा सौरभ ऋतुओं के बन्धन में नहीं आता। ये ऋतुएँ परिवर्तनशील हैं किन्तु तेरा सौरभ अपरिवर्तनशील है। आत्मा है, परमात्मा भी है, जगत भी है, जगदीश्वर भी। पराग के अनुभव के अभाव में इनके प्रति न राग रहता है और न अनुराग। जहाँ अनुराग नहीं वहाँ जीवन भार। भारवाही किसका आभार मानें। भारमुक्त हो भी नहीं पाता मनुष्य कि जीवन यात्रा का अवसान आया। अब कहाँ रही उसकी शान-शौकत ? शौकत शोक में बदल गई, आई जीवन की सौत मौत जिसने अब अवसर न दिया सौरभ प्राप्त करने का।

अब सर धुनने से क्या लाभ ? न आत्मा को समझ पाया और न परमात्मा को, न सौरभ को न पुष्प को, जो मिला था मिलन के लिये प्रभु के भक्तों से। मिला उनसे जिन्होंने पृथ्वी पर रहकर पृथ्वी की ही निन्दा की। निन्दा करता है उसकी जिस पर जिन्दा रह कर, न रहना जान पाया और न जाना। जाने के पहले यदि वह जान पाता कि क्यों आया और क्यों जा रहा है तो उसे कहना न पड़ता कि - “अपनी खुशी न आये हम, न अपनी खुशी चले।” पदार्थ को देखने वाला, अर्थ खोजता है पद नहीं जिन्हें पाकर हृदय की जलन मिटाता। विधाता का विधान, प्रकृति का अभिनय, नित नवीन, नित प्राचीन। प्रवीण भी समझ न पाये तो अन्य जनों की वार्त्ता ही क्या ?

पराग में राग है, अनुराग है, विराग है, सौभाग्य है। संसार की तीव्र गन्ध ही मनुष्य को बेचैन कर रही है वहाँ पराग का प्रार्थी, स्वार्थी कैसे हो सकता है ? शरीर कृष हो गया, कृष्ण न दिखलाई पड़ा, शरीर पर राख रमाई, राम के दर्शन न हुए तो क्यों उपवास किया, क्यों विभूति रमाई ? भाव का पराग कहाँ, सौरभ कहाँ ? नभ में नक्षत्र, भू पर क्षत्रधारी, क्षत, विक्षत हो गया तन, मन। सौरभ कहाँ ? पराग कहाँ ? पद में अनुराग, पद पर अनुराग कहाँ ? पद मिले भक्त को जिसने पद गाये अनुराग से, पराग मिला उन्हें जिन्होंने पर के राग में पराग न खोजा स्व राग ही उनका पराग था।

समय इतिहास बनाता तथा बिगाड़ता है। आज की विचारधारा, कल भी काम आ सकेगी, यह कहना कठिन है। प्रतिमुहूर्त बदलने वाले विचार, पराग प्राप्त करने में सहायक हो सकेंगे, यह आशा, दुराशामात्र है। पराग-प्रेमी, प्रेम में मस्त। समय तो आता-जाता है, प्रेम न आता न जाता। जब (प्रेम) होता है तो जाता नहीं, उसी में समा जाता है, जिसने प्रेम दिया अज्ञात रूप से। पराग प्रतिमुहूर्त यदि प्रेम का राग सुने अनुराग में तल्लीन होकर। कौन तुच्छ ? प्रेमी। यह हो नहीं सकता। सर्वस्व अर्पण कर प्राप्त करना चाहता है अज्ञात का प्रेम, वह तुच्छ नहीं, स्वच्छ है विचार भाव से। सौरभ तो रव है उसके प्राणों की जो धड़कन बन कर शरीर को गति देती है।

भावुकता में भी पराग है यदि अभाव के लिये न हो। भाव भावना, भगवान को भक्त का हृदय अनुभव करता है। श्वासों का तार शास्त्र बन जाता है, वेद भेद देता है संशय, निरर्थक विषय को, पुराण प्राण बन जाता

है यथार्थता का, कल्पना का नहीं - भक्त के लिये, जिसके जीवन का उद्देश्य रहता है उस देश की प्राप्ति, जहाँ अहिर्निश पराग का प्रसार होता है प्रतिक्षण। जहाँ क्षय नहीं जय है, जयजयकार है अपने प्राणों के स्वामी की। स्व में स्वामी और उसका सौरभ विद्यमान है अभिमान रहित भक्त के लिये। भक्त ने वह तख्त पाया जिसे अन्य जन ताकते रह जाते हैं।

तख्त, सख्त नहीं उसके लिये जो हर वख्त हरि का उपासक है। उपासक है तभी तो उसके पास बैठ जाता है जो तख्त पर आसीन है। जिसके सीने में श्याम की मधुर मूर्ति अंकित है उसी के लिये प्रभु का अंक है अन्यथा कलंक का भार ढोता हुआ, विषय प्राप्ति के लिये रोता हुआ, भव-वन में जीवन खोता हुआ, आँखें खुली रही फिर भी सोता हुआ, निरर्थक विचारों के बीज बोता हुआ, कामना के धागे में दुःखों को पिरोता हुआ, संकोच और सन्देह को ढोता हुआ, प्राणी चला जाता है, अनजान देश को। और पराग ? पराग कहाँ, दुर्गन्ध में ही समय बिताया। परन्तु पराग न मिला तो विराग किस काम आया ?

सन्त प्रेमी, सन्त बैरागी। प्रेम प्रभु का, विराग उन भावों का जो जान-अनजान में अभाव की सृष्टि करते हैं। एक सृष्टि का खेल देख कर हैरान, परेशान हो जाता है मनुष्य, फिर मन के अभाव की सृष्टि तो और भी अधिक दुःखदायी हो जाती है। कहाँ, कहाँ यह निरर्थक, निरुद्देश्य चक्कर काटता रहता है यह मन कि तन शिथिल हो जाता है। तन, शिथिल तन, तन कर तैयार नहीं मिलन के लिये, वहाँ मन की स्थिति अधिक अधीर। तन, मन यदि सह योगी के रूप में कार्य करे तो दोनों ही योगी, परम उपयोगी, अन्यथा योग संयोग से लाभ कहाँ ? शरीर को बेहल कर दिया

मन ने। अब मन, मन मार कर बैठ जाय, तन साथ देने से रहा। मन, बुद्धि का कर्ष, निष्कर्ष तक पहुँचने नहीं देता। मन का निरर्थक चक्कर तन को क्रियाशील कब रहने देगा ? प्राण स्पन्दन करे, क्रन्दन करे उस व्यक्ति के लिये जिसने जीवन का मूल्य अर्थ संग्रह समझ रखा है, परमार्थ नहीं। परमार्थी भी सौरभ की ओर ध्यान न दे तो सुगन्ध रहित जीवन यापन करेगा।

ये वेद, वेदान्त, उपनिषद, बाइबिल, कुरान आदि जिन्हें लोग धार्मिक ग्रन्थ कहते हैं, तेरा सौरभ है। वाणी के सौरभ को मनुष्य सौरभ नहीं कहता, नासिका का विषय ही उसके लिये सौरभ है। पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ अपना - अपना कार्य कर रही हैं अतः सौरभ को नासिका का ही प्रिय विषय समझना अल्पज्ञता है। नासिका का क्षेत्र सीमित है, किन्तु सौरभ का क्षेत्र सीमित नहीं। साधारण जन सौरभ को नासिका का ही विषय मान सन्तुष्ट हैं उन्हें वाणी के सौरभ से लाभ उठाने का समय कहाँ ?

जगत के कार्य अनेक हैं। कार्यों का लक्ष्य है, सुख और आनन्द। यदि सुख और आनन्द का अनुभव न कर सका व्यक्ति तो भू भार ही रहा। कार्य तो किये जाते हैं या हो रहे हैं, किन्तु कार्यों से यदि सुख अथवा आनन्द न प्राप्त कर सका व्यक्ति तो कार्य भार स्वरूप हो जाते हैं। भू पर अनेक भार हैं यदि मनुष्य भी भार रूप हो जाय तो पृथ्वी भार मुक्त कब होगी ? मुक्त ही पृथ्वी को भार मुक्त करता आया है। विशाल भूमण्डल पर मण्डली वाले अनेक, कमण्डल वाले अनेक किन्तु उनमें मुक्त कितने हैं, यह कहना कठिन है। जीवन का लक्ष्य भिक्षा नहीं, शिक्षा है। शिक्षा भी मौखिक नहीं, कार्यों के द्वारा स्वतः प्रकाश में आये तो जीवन, अन्यथा जीवन भू



भार ही रहता है। प्रत्येक क्षण कुछ हो रहा है। क्या हो रहा है ? क्यों हो रहा है ? इसका भी ज्ञान यदि मनुष्य को न हो पाया तो वह वृथा ही आया, व्यर्थ ही उसने मानसिक कष्ट उठाया।

लेखक लिख कर इतिश्री समझ बैठा है तथा उपदेशक उपदेश देकर किन्तु उनका लिखना तथा उपदेश देना कहाँ सार्थक हो पाया ? कुछ ने लिखा, कुछ ने आलोचना की, कुछ ने विषय का मण्डन किया तो कुछ ने खण्डन। इस आलोचना तथा खण्डन से मनुष्य को लाभ ? पण्डितजन कहेंगे इससे ज्ञान की वृद्धि होगी, सत्य का निर्णय तथा अन्वेषण। भ्रान्ति ही बढ़ेगी इस खण्डन, मण्डन से, शान्ति का मार्ग ही भिन्न है। शान्ति मिलेगी, भ्रान्ति निवारण से। भ्रान्ति का निवारण मानसिक रण को शान्त करता है। मानसिक रण ही तन को, मन को अशान्त बनाता है। किसी को बनाना अर्थात् उपहास करना मात्र है। यह वह बनाना तो नहीं जो डाकू रत्नाकर को ऋषि वाल्मीकि बनाता है, सुदामा को धन सम्पन्न। किन्तु इन बातों पर वह क्यों ध्यान देगा जिसे केवल बातें बनाना है। समय की कृपा है बनाने के पूर्व बिगाड़ना ही आज की गतिविधि है। बनाने में समय लगता है, बिगाड़ना तो अति सरल है। किसी को क्रोधित करना आसान किन्तु शान्त करना सरल नहीं। प्रकृति के चक्कर में पड़ा हुआ प्राणी, तेरे सौरभ का आनन्द कब प्राप्त कर सका।

माया क्या है, काया क्या है, छाया क्या है इन बातों पर ध्यान न देता हुआ प्राणी चला जा रहा है। क्यों परेशान है इसे समझ ही नहीं पाता। पाता है पार्थिव भाव जिनका प्राप्त होना उसे अधिक व्यग्र करता है। सौरभ का उपासक है भ्रमर मन। मन भ्रम में पड़ा तन, सुख के कण संग्रह करने में

संलग्न, वहाँ सौरभ की चाह किसको ? जो हित न जान पाया वह मोहित किस पर होगा ? मोह से ग्रसित वह मोहित कब हुआ ? मोह से ग्रसित क्यों हुआ ? प्रेम को क्यों न पहचान पाया ? प्राणी के लिये मोह प्रधान, वह मही पर आया, मैं ही, मैं ही कह कर अहंकारी बन बैठा। मही (पृथ्वी) कहती, मैं ही, प्राणी कहता मैं ही, मैं ही। मही ने मोह दिया पार्थिव वस्तु संग्रह करने के लिये, प्राणी ने अपने अहंकार की तुष्टि के लिये मोह को प्रधान माना। इस मान्यता ने प्राणी को अधिक भ्रमित किया।

भ्रमित भ्रम का सहयोगी। वह उस योगी को न जान पाया जिसे संसार के लोग योगी कहे कि भोगी इसी भ्रम में पड़े हैं। सहयोगी को पहचान पाये तो लाभ ही लाभ है। सहयोगी को अर्जुन भी नहीं पहचान पाया। क्यों ? उसने उसे सहयोगी ही समझा योगी न समझा जब तक कि उसने अपनी योगमाया का प्रदर्शन न किया। प्रदर्शन ही देख पाया उस विराट रूप का, दर्शन कर पाता तो एक ही क्षण में वह योगी तथा उसकी माया को भी समझ पाता ।

प्रकृति की कृति भी विचित्र, जहाँ प्रत्येक क्षण परिवर्तन होता रहता है जिसे ज्ञानी जन विनाश और विकास कहते हैं। विनाश इसलिये समझता है कि वस्तु तथा स्थिति में एक विशेष गति है जो प्रत्येक क्षण उनमें (वस्तु तथा स्थिति में) हलचल उत्पन्न तथा लय करती रहती है। करती है तथा रहती है फिर भी अपना पता नहीं बतलाती, जब तक कि मनुष्य उसका अनुसन्धान न करे, ध्यान न करे तेरे सौरभ का।

विनाश और विकास कार्य और काल की तरंग है जो महाकाल रूपी समुद्र में उठती है और लीन होती है। युग कहकर भी विज्ञ अज्ञ ही

बना रहा जब तक तेरे सौरभ का परिचय न पा सका। लहरों की गिनती कौन कर पाया ? यह तो लहरें हैं जो उठती हैं, गिरती हैं, मनुष्य उन्हें विनाश कहे या विकास। मनुष्य की पहली मनुष्य न समझ पाया, प्रकृति और पुरुष के कार्य समझ पाना सरल कार्य नहीं। विचारों की तरंगों का नाम मन कहलाया, मन की गति भी मनुष्य जब तक समझ नहीं पाता वह वस्तु और स्थिति की गति कब समझ पाया। वर्णन कल्पना है और अनुभव साक्षात्कार। वर्णन भी सब व्यक्ति नहीं कर पाते और अनुभव तो और भी कठिन है। स्थूल अनुभव भी सभी प्राणी एक रूप में नहीं कर पाते, सूक्ष्म अनुभव तो सभी को होता भी नहीं। कल्पना का चक्र ही मनुष्य के लिये आश्चर्यजनक है, अनुभव तो और भी आश्चर्यजनक। वह भी मनुष्य था जिसने आत्मा की अमरता का अनुभव किया तथा वह भी मनुष्य था जिसे आत्मा पर सन्देह हुआ और अमरता पर भी। वह भी मनुष्य था जिसने मूर्तियों में अपने प्रभु का अनुभव किया तथा वह भी मनुष्य था जिसने मूर्तियों को ध्वंश करने में अपने प्रभु की आज्ञा पालन समझा।

कौन समझ सकेगा मानव प्रकृति के भिन्न-भिन्न कार्य, जिसे मनुष्य धर्म कर्म के नाम से पुकारता है। जहाँ मुखाकृति में प्रत्येक प्राणी में भिन्नता है वहाँ प्रकृति में होना तो स्वाभाविक है, ऐसा कहना ही उचित जान पड़ता है। एक ओर विचार जहाँ मानव समस्या को हल करते हैं वहाँ दूसरी ओर नवीन समस्या उपस्थित, ये विचारों की तरंगे नहीं तो क्या हैं ? विनाश और विकास इनका (तरंगों का) नाम रखा गया अन्यथा न है विनाश और न है विकास, ये तो तरंगे हैं विचारों की जिन्हें मनुष्य जैसा चाहे वैसा पुकार ले।

पृथ्वी का दूध पानी और प्राणी का दूध रक्त। क्या इसी के लिये प्राणी रक्त का पिपासु होता है ? जल का पिपासु जब रक्त का पिपासु बन जाता है तब महा समर होते हैं। जल पीते-पीते मनुष्य रक्त का पिपासु क्यों बन बैठा ? जल ने तो उसे शान्ति प्रदान की थी फिर क्रान्ति कहाँ से आ टपकी ? यह भी तो विचारों की तरंगें हैं मनुष्य समर में विनाश देखते हुए भी विकास की आशा रखता है चाहे वह पूर्ण हो या न हो। कैसा अद्भुत चक्र है विचारों का जहाँ प्रत्येक क्षण ये बदलते हैं नया रूप ग्रहण करते हैं पुनः प्राचीन कहलाते हैं और यों ही यह काल का चक्र चलता आ रहा है और चलता रहेगा जब तक कि मनुष्य स्वयं में लीन न होगा, प्रभु के सौरभ को न समझ पायेगा।

तेरे सौरभ का उपासक प्रकृति की गति का अवलोकन करेगा, आलोचना कर व्यर्थ समय न बितायेगा, वह तेरी कृपा का आधार पाकर जान पाता है कि यह काल की गति है, प्रकृति का विनोद है जिसे मनुष्य विनोद न समझ विनाश और विकास की संज्ञा देता आ रहा है। काल को कोई रोक न सका, ठहरा न सका। सतयुग की कल्पना करने वाला व्यक्ति क्यों कलिकाल में आ फँसा। यह काल है जिसकी चाल को कोई रोक न सका। आये देव, आये दानव, आये मानव। कुछ मानव देव बनकर चले गये, बलदेव बनकर चले गये और कुछ दानव जो राम, रावण के नाम से प्रसिद्ध हुए। मानव देव भी और दानव भी। देव तब, जब बलदेव को माने और दानव ? जब नम न हो सका अपने आत्मदेव के सम्मुख। मुख की कालिमा न धुली, जब तक तेरे सौरभ से आनन्द न पा सका, लाभ न उठा सका मानव जीवन से।

पय पानी भी, प्राण भी, पय दूध भी देवदूत भी। देवदूत ने देव की घोषणा की, आत्मदेव के सौरभ को प्रसारित किया। दानव ने न माना देव, न माना उस दान को जो उसे जीवन के रूप में मिला था। न झुका और न रुका, दानव कृतियों को ही उसने जीवन समझा। क्या पाया ? दुर्नाम। आज भी दानवों के कार्यों पर मानव थूकता है किन्तु फिर भी अज्ञतावश दानवता को ही अपनाता है, मानवता को नहीं। जिसे तेरा सौरभ प्राप्त न हुआ उसने दुर्गन्धिमय जीवन बिताया।

चर्चा तेरे सौरभ की थी किन्तु विचारों का तार कुछ ऐसा बँधा कि दूध से महान तेरे सौरभ की गाथा, प्रकृति के कुछ विनोद की बातें आई कि दूध में पानी मिल गया। दूध में भी पानी का अंश रहता ही है किन्तु यदि जानकारी के अभिमान में दूध में पानी मिलाया जाय तो अपने कर्तव्य से मनुष्य विमुख होता है। क्या कोई तेरे सौरभ का वर्णन कर सकेगा जो (तेरा सौरभ) असीम है। भाव, भक्ति से महान है। जो तेरी कृपा के कारण सौरभ का एक कण भी पा सका उसका मन तेरे चरणों को छोड़कर अन्यत्र आनन्द न पा सकेगा। भ्रमर मन गुनगुनाता रहता है तेरा सौरभ पान कर तथा प्राणों का भान भी भूल बैठता है। बैठता है ऐसे चरणों के समीप जहाँ भूल की शूल का आभास मात्र भी नहीं। वहाँ आभा है तेरे मधुर रूप की, भासमान है तेरा सौरभ। असीम के सौरभ को शब्दों की सीमा में लाने का प्रयास बौने का आकाश छूने की चेष्टा के समान असम्भव है।

नासिका का विषय सौरभ, नाशवान। तेरा सौरभ अमर है, तू स्वयं अमर है, तेरी महिमा अमर है कोई माने या न माने तुझे या तेरे सौरभ को। प्रलय के पश्चात् भी तेरा सौरभ विद्यमान रहेगा, तभी तो नवीन सृष्टि

का निर्माण हो सकेगा। सौरभ रहित सृष्टि दुर्गन्धमय न हो जायेगी। तेरा सौरभ आज भी भक्त भ्रमर मन को आकृष्ट करता है तभी तो तेरे सौरभ की महिमा का गान कुछ शब्दों में करने की चेष्टा व्यक्ति करता आया है। व्यक्त कहाँ तक हो पाया है वह तू ही जानें।

\*\*\*

## प्राणी की प्रेरणा

प्राणी की प्रेरणा कार्य करती है या प्रभु की कृपा जिसे प्रेरणा कहना अर्थ का अनर्थ सा प्रतीत होता है। होता तो है प्रभु कृपा के आधार पर किन्तु फिर प्राणी की प्रेरणा का स्थान भी आवश्यक है अन्यथा कर्मयोगी कहेंगे कि “कर्म प्रधान विश्व कर राचा, को कर तर्क बढ़ावा शाखा।” विश्व की रचना हुई यह भी कर्म है, तर्क भी कर्म है और शाखा तो कर्म का फल है। शाखा की वृद्धि कृष्ण, अर्जुन का सखा करता है यह कृष्ण भक्त कहेगा ही। तर्क की शाखा भी किसी की प्रेरणा का ही फल है। वेद, उपनिषद, गीता, भागवत, रामायण तर्क तथा तर्क की शाखा पर ही अवलम्बित हैं।

प्रेरणा कुछ विशेष भाव है, जिसे समझना सरल नहीं। व्यक्ति को भले, बुरे विचारों की प्रेरणा मिलती है पूर्व संचित संस्कार के अनुसार। यह संस्कार भी कार्य फल का ही दूसरा नाम है। प्राणी है, प्रेरणा है, संस्कार हैं। इन तीनों में प्रेरणा प्रधान है ऐसा प्रतीत होता है। प्रेरणा कहाँ से मिलती है, कब मिलती है, कैसे मिलती है ? यह भी प्रश्न है जिसे खोज पाना तथा प्रश्न का समाधान करना भी सरल कार्य नहीं। खोज जारी है तथा उत्तर भी दिया जाता है पूर्व ऋषि-मुनियों के लिखित ग्रन्थों के आधार पर किन्तु व्यक्ति जब तक इस रहस्य को आंशिक रूप से जान नहीं पाता समस्या ही बनी रहती है।

प्रेरणा कहाँ से मिलती है ? प्राण कहाँ से मिलते हैं ? जहाँ से प्राण मिलते हैं प्रेरणा भी वहीं से मिलती है। क्या प्रेरणा प्राण है ? प्राणों की

स्वाभाविक गति को आंशिक रूप से तो प्रेरणा कह सकते हैं, किन्तु यह तो प्राणों की गति मात्र है यथार्थ प्रेरणा किसी कार्य विशेष के लिये कारण बनती है। गायक गाता है, लेखक लिखता है। भक्त आराधना करता है इसी प्रेरणा के बल पर। बल-निर्बल के लिये भी आवश्यक है, सबल के लिये भी। सबल का बल कुछ आश्चर्यजनक कार्य कर दिखलाता है जैसे कि भक्त की भक्ति का बल। सबका उद्गम स्थान प्रेरणा है।

प्रेरणा भीतरी, प्रेरणा बाहरी, कभी-कभी बाहरी कार्य भी प्रेरणा के कारण बन जाते हैं। यह प्रेरणा विशेष भाव उत्पन्न नहीं कर पाती। भीतरी प्रेरणा स्थायी कार्य का कारण बनती है। कुछ अमर लेखक होते हैं, कुछ अमर भक्त। भक्त, लेखक से प्रेरणा पाता है या लेखक भक्त से यह विचारणीय प्रश्न है। यों तो आधुनिक काल में लेखक भी अपनी कृति को साधना कहने लगा है। उसका कहना भी अर्थ रखता है किन्तु साधना साध नहीं रहने देती। यदि ऐसी अवस्था लेखक की हो गई है तो साधना शब्द का प्रयोग उचित है अन्यथा शब्द का प्रयोग मानसिक प्रमोद है। प्रमोद भी प्रेरणा के अभाव में संचारित नहीं होता।

सृष्टि का प्रत्येक कार्य किसी न किसी कारण से ही सम्पादित होता है। कारण, कार्य में प्रेरणा का स्थान कहाँ है, यह भी प्रश्न हो सकता है। प्रेरणा के अभाव में न कार्य सम्भव है और न कारण। श्वास, प्रश्वास का प्रेरक कौन ? प्राणी की प्रेरणा का प्रेरक कौन ? इस कौन का उत्तर देगा कौन ? शायद प्रेरणा का भाव। शायद क्यों ? निश्चित उत्तर होता तो प्रश्न की आवश्यकता ही न होती। कुछ कल्पना तथा कुछ सत्यांश के आधार पर ही उत्तर दिया जा सकेगा। अनिश्चित जगत में निश्चित उत्तर दे पाना



कहाँ तक सम्भव है। अधिकार पूर्ण उत्तरदाता भूल करता है उत्तर देने में। क्या पूर्ण (सत्य) ने उसे अधिकार दिया है कि वह उत्तर में पूर्णता दिखलाये ? यदि नहीं तो उसका उत्तर बुद्धि का विलास मात्र है, पूर्ण उत्तर नहीं।

जुगनू की चमक अंधकार के लिये प्रकाश, चन्द्रमा की उपस्थिति में उस चमक का स्थान नगण्य, सूर्य का प्रकाश चन्द्रमा की ज्योति को लीन कर लेता है। रात्रि दिवस का प्रकाश 'स्व प्रकाश' के सन्मुख टिमटिमाते दीपक के समान नहीं। प्राणी यदि प्रेरणा की शक्ति से अनभिज्ञ है तब भी प्रेरणा कार्य करती रहती है श्वास-प्रश्वास की तरह। प्रतिभा शब्द का प्रयोग मनुष्य की विशेष सूझबूझ के लिये मनुष्य करता आया है। प्रतिभा सम्पन्न व्यक्ति कुछ ऐसा कार्य कर दिखलाता है जो अन्य व्यक्तियों के लिये आश्चर्यजनक होता है। निरन्तर प्रेरणा प्रतिभा का कारण बनती है। प्रेरणा प्रतिभा की जननी है। प्रशंसा संतान की, जनक जननी को व्यक्ति जानने का प्रयास क्यों करने लगा ? फल की तारीफ, किन्तु वृक्ष, भूमि, माली की ओर ध्यान देने के लिये मनुष्य के पास समय नहीं रहता या इच्छा नहीं रहती यह विचारणीय है। फल का स्वाद ही उसके लिये (मनुष्य के लिये) सब कुछ है, अन्य बातों को वह निरर्थक समझता है। प्रतिभा ही उसके लिये प्रशंसात्मक शब्द कहलाती है प्रेरणा के महत्त्व पर वह क्यों ध्यान देने लगा।

अनेक प्रश्न इन पंक्तियों में किये गये तथा कुछ के संक्षिप्त उत्तर भी दिये गये, अन्य प्रश्न अब भी ज्यों के त्यों खड़े उत्तर की प्रतीक्षा कर रहे

हैं। उत्तर पाकर भी वे सन्तुष्ट हो जायेंगे ऐसी आशा करना, आशा ही है, निश्चित नहीं।

प्रेरणा के खेल अद्भुत, जिन्हें भूत (प्राणी) क्या भूतनाथ ही जाने। प्रेरक कभी प्रत्यक्ष, कभी अलक्ष्य। प्रेरणा का रूप नहीं, जैसा पात्र देखती है वैसा ही कार्य कर दिखलाती है, किन्तु फिर भी प्रत्यक्ष दिखलाई नहीं देती। न दिखलाई देना और भी उसे (प्रेरणा को) रहस्यमयी बना देता है। प्राणी की प्रेरणा या प्रेरणा के कारण प्राणी का आगमन हुआ है यह भी विचारणीय है। प्रश्न पर प्रश्न आते रहते हैं, यथाभाव उत्तर भी दिया जाता है यह भी प्रेरणा ही है। प्रेरणा प्रश्न करती और प्रेरणा उत्तर देती इसे भी सब प्राणी जान नहीं पाते। मान्यता इष्ट निर्वाचन करती है या इष्ट मान्यता का भाव देता है यह भी प्रश्न है। इन प्रश्नों का अन्त नहीं। सृष्टि का अन्त नहीं प्रलय है, लय है, रूपान्तर है आदि अनेक बातें कही जाती हैं किन्तु बात कहाँ जाती है ? बात बनी रहती है अर्थात् प्रश्न का अन्त नहीं। अनन्त की सृष्टि का रहस्य बातों से क्या अनुभव से भी पूर्ण नहीं जाना जा सकता फिर बात तो बात ही है।

अभिशाप, वरदान के रूप में जीवन मिला यह भी सिद्धान्त है। जीवन मिला, प्रेरणा शुभ कर्मों की न मिली अब जीवन भार, प्रतिक्षण, विलक्षण, जब लक्ष्य रहा अज्ञात मिलन का। वर समीप, दान प्राण दान, जीवन सफल, यह भी प्रेरणा थी और है। कृत कार्य यदि विकृत हैं तो सम्पूर्ण विश्व विषवत् यदि उत्कृष्ट तो प्राणी सन्तुष्ट है अपने जीवन से। भू पर आगमन हुआ है मन का भार, दिल की हार, प्राणी की पुकार, निरर्थक

संस्कार को समर्पण करने के लिये न कि विचारों का समर करने के लिये। यह युद्ध भूमि नहीं, शुद्ध भूमि है, शुद्ध प्रेरणा वालों के लिये।

प्रेरणा और प्राण, प्राणी और वाणी, इन चारों के रहस्य की आंशिक जानकारी भी प्राणी के प्राणों में नव जीवन का संचार करती है। चार का संचार, चार विचार, चार वर्ण, चार वेद, जीवन के चार सोपान (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) चतुर्भुज इष्ट, द्विभुज मनुष्य सभी प्रेरणा के अभिलाषी हैं। प्राण गति है स्थूल प्राणी की। प्राणों का मोह भय का कारण है। प्राण प्रतिष्ठा रहित मूर्ति, मूर्ति मात्र है प्रेरणा प्रदात्रि नहीं। प्रेरणा के अभाव में प्राणी सजीव होता हुआ भी निर्जीव सा प्रतीत होगा। प्राणी की प्रेरणा ने मनुष्य को देवपद प्रदान किया। राज्य का मोह जिनके लिये तुच्छ था, ऐसे भी व्यक्ति धराधाम पर आये तथा प्राणों की प्रेरणा ने उन्हें साधना के लिये उत्साहित किया। हिंसक प्राणियों के भय से मुक्त किया उसे महाशक्ति से जिसे पाकर वे विश्व प्रेम प्रसारित करते हुये देव पद पा सके। ऐसे महापुरुषों में, बुद्ध, महावीर स्वामी आदि अनेक हुये हैं।

प्रेरणा कष्ट की परवाह नहीं करती। बुद्धि जहाँ विवेचन के लिये समय चाहती है, वहाँ प्रेरणा बुद्धि को पराजित कर उस व्यक्ति को विशेष कार्य में लगा देती है जिनकी बातों तथा कार्यों पर आधुनिक काल का व्यक्ति सन्देह करता है। इस युग में भी देश भक्ति के लिये अनेक व्यक्तियों ने अनेक कष्ट सहन किये, किन्तु पथ से विचलित न हुये। यह भी प्रेरणा थी अन्तःकरण की जिसने जीवन का अन्त होते देखा, किन्तु प्रेरणा की दीपशिखा जलती रही और जलती रहेगी जब तक यह संसार लय नहीं हो जाता प्रलय की गोद में। साठ हजार वर्ष तप करने वाले विश्वामित्र ने

प्रेरणा के दोनों रूप देखे। योग भी, भोग भी। राम की प्रेरणा, रावण का वध। उदाहरण अनेक हैं जिन्हें देने वाला थक जायेगा, प्रेरणा न थकेगी। स्रोत का प्रवाह जीवन है, उद्गम उच्च पर्वत। उच्च विचार जब क्रियात्मक रूप धारण करते हैं तब वे अनेक व्यक्तियों के लिये पथ-प्रदर्शक का कार्य करते हैं। साधारण जन प्राण धारण कर भोजन व्यवस्था में ही आयु बिता देते हैं। प्रेरणा उनमें भी, किन्तु सुप्त तथा गुप्त ये प्राणी बहते जल की तरह निर्मल विचारधारा वाले थे। जल मिला किन्तु उसे भरण-पोषण के गड्ढे तक ही सीमित रखा। परिणाम स्पष्ट था जल गन्दा हो गया। जीवन गन्दा, मटमैला हो गया। प्रेरणा गन्दगी पसन्द नहीं करती तथा सीमित भी रहना नहीं चाहती। वह चाहती है प्राणी स्वच्छन्द स्रोत की तरह बहता जाये-बहता जाये तथा बहकना बन्द कर व्यक्ति कुछ ऐसे कार्य करे जो स्वयं तथा पर के लिये आनन्दवर्द्धक हो।

उच्च गगन पर स्थित जल भूमि पर आया तो मिट्टी में मिलकर मटमैला हो गया। मन यदि मैला है तो मटमैला होगा ही। भिन्न-भिन्न रुचियों ने ऐसी रचना की कि मनुष्य का भूमि पर वास करना दुष्कर हो गया। ये प्रेरणा के खेल थे जिन्हें लोगों ने धर्म, कर्म कहकर मनमाना पथ बनाना प्रारम्भ किया। आज वे पथ प्राचीन जीर्ण-शीर्ण हो गये। मनुष्य आज नवीन मार्ग के अन्वेषण में है। प्राचीनता ने उसका दम घोट दिया है। वह खुली हवा में विचरण करना चाहता है। अध्यात्मवाद की वार्त्ता अब वह सुनना नहीं चाहता। वह चाहता है विज्ञान के चमत्कार, जिन्हें देखकर तथा लाभ उठाकर जीवन को सुगम बनाना चाहता है। पर्वत के शिखर का झरना प्रकृति की केवल शोभा बढ़ाये मनुष्य यह देखना पसन्द नहीं करता, वह उसके जल का प्रयोग विद्युत शक्ति प्राप्त करने के लिये करना चाहता

है। यह भी आज के प्राणी की प्रेरणा का एक उदाहरण है। न अध्यात्मवाद विलीन होने वाला है न विज्ञान प्रेम, दोनों अपनी राह पर चले जा रहे हैं तथा चले जाते रहेंगे। मन की शान्ति का मार्ग अध्यात्मवाद तथा तन सुख वृद्धि के मार्ग विज्ञान खोजता चला जा रहा है।

प्रेरणा भावना ही तो नहीं है, वह भावना को सजीव बनाने वाली महाशक्ति है। चित्रकार बैठा हुआ है प्रेरणा के अभाव में। धन-जन सम्पन्न व्यक्ति यदि किसी सन्त से प्रेरणा प्राप्त न कर सका तो धन-जन किस काम आया ? विद्वान ने विद्या अर्जित की, परिश्रम भी अथक किया किन्तु अब यदि लोकहित की उसे प्रेरणा न मिली तो विद्या, सम्भवतः अर्थ उपार्जन में सहायक हो सकती है किन्तु यह विद्या अविद्या ही रही। प्रेम की भी प्रेरणा होती है। प्रेम को जान न सका तो वासनामय जीवन व्यतीत करता हुआ पश्चाताप ही उस व्यक्ति के हिस्से में मिलेगा। बाँसुरी की प्रेरणा ने गोपियों को मुग्ध ही नहीं किया, शुद्ध कर दिया उनका अन्तःकरण। अन्त तक कृष्ण-कृष्ण की रट लगाते हुये ही प्राण त्यागे। कैसी अद्भुत शक्ति है कि व्यक्ति को चैन से बैठने नहीं देती जब तक वह साध्य को प्राप्त नहीं कर लेता। आलस्य उसके समीप फटकने नहीं पाता। बहाती है रगों में वह तरंग कि व्यक्ति तर हो जाता है हृदय में तथा वह रंग प्रवाहित करती है कि मनुष्य अन्य जनों को भी रंगता हुआ चला जाता है। जाता है फिर आता नहीं, केवल उसका नाम रह जाता है जिसे जप कर मनुष्य अपने को धन्य समझता है। मृत्यु के अति समीप आकर वह निर्भय रहता है उसने उसका नाम जपा है जिसकी प्रेरणा आज भी कार्य कर रही है, यद्यपि उसका शरीर नहीं, किन्तु प्रेरणा तो आज भी कार्य कर रही है। अवतारी कह कर व्यक्ति सन्तुष्ट नहीं होता, भगवान शब्द भी उसे इतना आनन्द नहीं देता जितना

व्यक्ति उसे महान समझता है। प्राणों की व्याकुलता के लिए स्थान न रहा, जब व्यक्ति महान का कृपा प्रसाद पा सका। किसी की प्रेरणा ने किसी के जीवन को सरस कर दिया अज्ञात प्रेरणा से।

प्रत्यक्ष को मानने वाला अज्ञात की बातें क्या जाने। तालाब के जल में वह गर्जन कहाँ जो समुद्र के जल में है। वायु और चन्द्र का स्पर्श समुद्र की तरंगों को प्रोत्साहित करता रहता है। पूर्णिमा का चन्द्र समुद्र को व्याकुल कर देता है मिलन के लिये। अतः तरंगें उत्ताल तरंगें प्राण भर चेष्टा कर थक जाती हैं मिलन नहीं हो पाता, किन्तु धन्य है वह सन्त जिसकी अज्ञात प्रेरणा के कारण क्षुद्र प्राणी भी महान से मिल कर महान हो जाता है। चन्द्र और समुद्र कर्म की शृंखला में बद्ध हैं अतः मिलन नहीं हो पाता, किन्तु सन्त की महिमा को शब्दों में कैसे व्यक्त की जाय, जिसने कर्म की शृंखला को ज्ञान अग्नि के समर्पण कर ऐसी प्रेरणा दी व्यक्ति को कि वह सत्य का गुणगान करता थकता नहीं। शरीर यदि थक भी जाय तो मन कहाँ थका ? दिल खोलकर सन्त के अनमोल भावों को न केवल दोनों हाथों से, बल्कि वाणी तथा प्राणों की शुद्ध भावना से लुटाता फिरता है। आज उसे वह धन मिला जो अनेक योनियों में वह न पा सका था। लुटाता चला जाता है अन्तिम श्वाँस तक ।

प्रेरणा, सन्त की प्रेरणा कैसी बलवती होती है इसे अन्य जन कैसे जाने, जानने वाला शान्त नहीं हो पाता, जब तक वह प्रत्येक वाणी को प्राणी के अन्तःकरण में प्रविष्ट नहीं करा पाता। ऐसा व्यक्ति पाता क्या है यह प्रश्न हो सकता है ? क्या पाता है इसका उत्तर शब्दों में कैसे दिया जाय। शृंखलाबद्ध प्राणी जब सन्त प्रेरणा से स्वतन्त्र हुआ तो उसका हृदय

कृतज्ञता से पूर्ण हो जाता है और सन्त के गीत गाता हुआ (सन्त जो सत्य का प्रतिरूप है) अनिर्वचनीय आनन्द पाता है। अब वह आनन्द आनन्द पुकारता हुआ द्वार-द्वार अलख जगाता है। किसे कहे कि सन्त की प्रेरणा ने उसे क्या दिया है। सत्य और सन्त को वह भूल कैसे सकता है उन्हीं की कृपा के कारण उसे आनन्द मिला है। अतः आनन्द आनन्द की ध्वनि की झंकार करता भ्रमण कर रहा है धरा पर। मिला, कुछ ऐसा मिला कि उस सा कहीं न मिला।

भोली दुनिया के अबोध बालक आनन्द की वार्ता सुन कुछ आज भी खंडन-मंडन में लगे हैं, किन्तु आनन्द के गीत गाने वाला इन अहंकारी व्यक्तियों की बातों पर क्यों ध्यान देने लगा ? जिसे सन्त की प्रेरणा न मिली वे ईर्ष्यालु ऐसा न करें तो करें क्या ? अभिमान इन्हें झुकने नहीं देता और जब तक झुकेगा नहीं आनन्द पायेगा कैसे ? प्रेरणा का खेल केवल खेल नहीं, वह तो मेल करा देता है अज्ञात शक्ति से जिसे व्यक्ति जान नहीं पाता, जब तक कि सन्त की प्रेरणा का प्राणी प्रार्थी न हो।

\*\*\*

## धर्म है या शिष्टाचार ?

आचार-विचार का संचार बुद्धि तथा हृदय से होता है। प्रथम विचार तब आचार। विचार कुछ देख कर होता है, कुछ मानसिक संतुलन से। बुद्धि निर्णायक है, किन्तु मन यदि निर्णय को स्वीकार न करे तो बुद्धि विवश हो जाती है। अमान्य कर्ता मन भी शान्त नहीं हो पाता। अन्तर द्वन्द्व की सृष्टि प्रारम्भ हुई। बाहरी सुख, सुख नहीं प्रतीत होता क्योंकि जहाँ मन और बुद्धि एक दूसरे के भाव विचार को अपनाते नहीं वहाँ सुख कहाँ, शान्ति कहाँ ?

विचार के आधार पर आचार किया जाता है। किया हुआ जाता नहीं यह तो ठीक है, किन्तु व्यक्ति कुछ करेगा तब न वह किया हुआ कहलायेगा। सृष्टि के प्रारम्भ में क्या था, क्या नहीं यह तो कल्पना मात्र है। किन्तु मन था और बुद्धि भी थी, नहीं तो मनुष्य इतना उन्नत कैसे होता, जिसे वह प्रगति कह कर फूला नहीं समाता। प्रगति मन की, बुद्धि की। सृष्टि अभी है, दृष्टि भी अभी है। दृष्टि नवीन दृश्यों की उपासिका है। यह नवीनता ही प्रगति कहलाती है।

विचारों की क्रान्ति तथा भ्रान्ति का चक्र भी अनवरत चलता रहता है। विचार शान्त रहने वाले नहीं। बुद्धि गृहणी का-सा कार्य करती रहती है। विचार और बुद्धि की संयुक्त प्रेरणा को यदि मन माने तो तन क्रियाशील। क्रियाशील के लिये जब कुछ करती है तो वह शिष्टाचार का रूप धारण करती है। इसी शिष्टाचार को धर्म कहकर लोग पुकारने लगते



हैं। धर्म का स्थान उच्च है और शिष्टाचार का भी। शिक्षा ने शिष्टाचार भी सिखलाया और धार्मिकता को भी प्रोत्साहन दिया।

प्रकृति का भी धर्म है, मनुष्य का भी। मनुष्य के धर्म में परिवर्तन आते रहते हैं। ये आते भी हैं, रहते भी हैं और चले जाते रहते हैं। जाते हैं फिर भी कुछ रह जाते हैं। जो कुछ रह जाते हैं उन्हें मूल मान मनुष्य तना, शाखा, प्रशाखा पत्रों की चिन्ता करता रहता है। पत्ते झड़ जाते हैं, आचार झड़ जाते हैं क्योंकि वे पुराने हो गये किन्तु अभी मूल है तथा तना, शाखा प्रशाखा भी है। पत्ते नये आये, पुराने हुए, झड़ गए इसी प्रकार ये आचार व्यवहार बदलते रहते हैं किन्तु धर्म नहीं बदलता। व्यक्ति कह सकता है कि उक्ति झूठी है हिन्दू मुसलमान बन जाता है तथा मुसलमान हिन्दू। धर्म बदला है कि नहीं ? धर्म नहीं बदला, आचार व्यवहार बदला। मानव कृत धर्म बदल सकता है किन्तु मानव प्रकृति रहती है। आहार, निद्रा, भय, मैथुन अब भी ज्यों के त्यों हैं। मनुष्य पुनः कहेगा आहार कैसे नहीं बदला, धार्मिकता के अनुसार ही वह खायेगा, पीयेगा। ठीक है किन्तु भोजन तो करता है, क्या वह भी मानवकृत धर्म के परिवर्तन के साथ-साथ ही बदल गया ? विचारशील व्यक्ति समझने का प्रयास करता है कि पत्ते बदले हैं, मूल वैसी ही बनी हुई है।

प्राकृतिक धर्म और मानवकृत धर्म में अन्तर है। जल, स्थल, अग्नि, वायु और नभ का भी धर्म है। वे आज भी अपने धर्म का पालन करते आ रहे हैं, किन्तु मनुष्य ने धर्म के नाम पर अनेक करवटें बदली और न जाने कितनी और बदलेगा यह कहना असम्भव है। शरीर को महाकष्ट देना भी उसने अपना धर्म समझा तथा विलासिता को भी अपना धर्म समझा।

एक ओर उसने गृह त्याग, बनवासी बन, कृच्छ्रतप कर शरीर को महाकष्ट दिया तथा दूसरी ओर उसने धर्म के नाम पर सुरा पान कर, मैथुन की विशिष्ट पद्धति को अपनाया, किन्तु धर्म से वह विलग ही रहा। आज भी वह उसी लकीर का फकीर बन साधना का नाम ले चला आ रहा है तथा चला जा रहा है। ये मानसिक विचार क्रिया में आते हैं तथा अन्य जनों के लिये यही धर्म बन जाते हैं। इन क्रियाओं का कुछ प्रभाव भी पड़ता है मन पर, तन पर। मनमाना धर्म या क्रिया का अवलम्बन कर मनुष्य प्रसन्न भी होता है तथा अन्य जनों के लिये कुछ व्यक्ति आश्चर्यजनक बन जाते हैं। वायु में सदेह भ्रमण करने वाला व्यक्ति किसी यान की सहायता नहीं लेता हुआ अनेक स्थानों का अवलोकन कर आता है और महायोगी कहलता है। योगी तो वह अवश्य है उसने प्रकृति के उस रहस्य को जान लिया है जिसके द्वारा वह वायु में विचरण कर सका, किन्तु इस क्रिया में धर्म का स्थान कहाँ ? यदि है तो वह पक्षी की साधारण क्रिया तक ही पहुँचा, मानव धर्म कहाँ ? साधारण जनों की दृष्टि में उसने आश्चर्यजनक कार्य कर दिखलाया, किन्तु इस क्रिया में धर्म कहाँ ? योगी योग करता है, साधना के द्वारा प्रकृति के उस विशेष कार्य से, जिसके द्वारा वह वायु में संतरण करता हुआ भिन्न-भिन्न स्थानों को देख सका, किन्तु मानव जाति को उसने क्या दिया ? “वायु में सदेह उड़ना” जो एक पक्षी के लिये अति सरल है। ऐसे ही कुछ कार्यों को कर मनुष्य प्रसिद्ध होता आया है। मृत व्यक्ति के शरीर में प्रवेश कर कुछ योगियों ने प्रसिद्धि प्राप्त की, किन्तु धर्म तो उपेक्षित ही रहा।

धर्म पालन करना आसान था और आसान है किन्तु सरल मार्ग को न अपना कर मनुष्य ने वह मार्ग अपनाया जो आश्चर्य की सृष्टि तो बना गया, किन्तु जनसाधारण के लिए उपादेय भाव न दे सका। सिद्धि, प्रसिद्धि

का कारण बनी। प्रसिद्धि सूक्ष्म अहंकार को प्रोत्साहन देती है। जहाँ अहंकार - वहाँ सब बेकार। धर्म के दस लक्षण बतलाने वाले नीतिज्ञों ने लक्षण ही बतलाये। जीवन के लक्ष्य की ओर केवल संकेत करना नीतिज्ञ का कार्य समाप्त नहीं कर देता, चाहिये ऐसा हृदय जहाँ धर्म अवस्थित होकर नीति को केवल नीति ही न रहने दे, दे कुछ ऐसा प्रकाश कि विश्व प्रकाशमय हो जाये। यह कार्य न नीतिज्ञ कर पाया और न ये योगी, जिन्होंने केवल चमत्कार को नमस्कार करवाया। प्रभु के प्रिय बालक सन्तों ने आकर अहंकार को प्रभु के पाद-पद्मों में समर्पित कर शान्ति का पथ ग्रहण किया तथा मानव कृत धर्म की ओर न ध्यान दे, सत्य को अपनाया, जहाँ अपना कहने को कुछ भी न रहा और आया वह जो अपना था, कल्पना का सपना न था। था कुछ ऐसा था जो सदा रहा और सदा सत्य के रूप में रहेगा।

धर्म है या शिष्टाचार कहने का अर्थ केवल यही है कि प्रथम शिष्ट बने, अभीष्ट के गुण ग्रहण करें तब कहीं धर्म की परछाई का आभास हो। युग बीत जाते हैं धर्म के दर्शन की प्रतीक्षा में। मानवकृत धर्म का पालन करना साधारण जन के लिये कठिन हो रहा है वहाँ सत्य धर्म भी है ऐसा समझना तथा मानना अति कठिन हो जाता है। चित्र अंकित करना सरल कार्य नहीं, वहाँ चित्त पर अंकित करना कहाँ सरल ? सरल को प्राप्त करने के लिये कितना गरल पान करना पड़ता है (निन्दा, स्तुति के रूप में ) यह तो जानने वाले ही जानते हैं (निन्दा, स्तुति करने वाले क्या जानें ?) “ये प्राण ले लो, यदि ये मेरे हों, अपना सत्य धर्म दिखलाओ यदि ये उसके दर्शन के योग्य हों।” यह है सन्त के हृदय की पुकार।

“धर्म की गति गहन है” यह कहकर सन्तुष्ट हो जाना तो कर्तव्य विमुख होना है। यदि मानव इस गहन धर्म की जानकारी के लिये उत्सुक न हो, जिज्ञासु न हो, अभिलाषी न हो तो मानव तन किस काम आया ? भोले प्राणी अन्न-वस्त्र की समस्या को प्रधानता देते आये उनका ध्यान यदि कभी गया भी तो मानव कृत धर्म की ओर ही गया, धर्म की गहनता उनके लिये उपेक्षित ही रही। प्राचीन काल के ऋषि-मुनि जब इन गहन तत्त्व के अन्वेषण में लगे तो इतना ही कह पाये कि धर्म की गति गहन है, किन्तु इससे पूर्ण सन्तोष तो नहीं हो पाता। यदि मानव धर्म का हो पाता तो सम्भव है वह धर्म की गहनता तथा गति को आंशिक समझ पाता।

गोताखोर मोती पाता है और धर्म की गहनता में गोता लगाने वाला मौज, आनन्द। गहनता व्यक्ति को हताश नहीं करती उसकी उत्सुकता बढ़ाती है। पार्थिव विनोद ही जिसके जीवन का लक्ष्य बना हुआ है वह गहन धर्म को क्यों महत्व देने लगा ? महत्व ही महान तत्त्व को एक दिन प्रत्यक्ष करने में सहायक होता है। समस्या जितनी कठिन प्रतीत होती है, उतनी है नहीं। ग्रहण करे धर्म तो मानव कृत धर्म उस व्यक्ति के लिये विशेष आकर्षण नहीं रखता। धर्म और मानवकृत धर्म में बड़ा अन्तर है। मानवकृत धर्म में नीति का स्थान अधिक है। किसी ने तृष्णा के त्याग पर अधिक बल दिया, किसी ने कामिनी, कांचन पर। जन्मजात क्षुधा की निवृत्ति केवल उपदेश देकर क्या कोई शान्त कर पाया ? यथार्थ धर्म की खोज में जब व्यक्ति संलग्न हो जाता है तब उसे सताने वाली न तृष्णा होती है और न कांचन और न कामिनी। गति है पार्थिव वस्तुओं के संग्रह करने की, वहाँ धर्म की गति गहन है यह उपदेश केवल उपदेश रह जाता है मानसिक दुर्बलता तथा उपद्रवों से मानव शान्त नहीं हो पाता।

धर्म का एक रूप है शिष्टाचार। जहाँ प्रदर्शन प्रधान वहाँ दर्शन दुर्लभ। प्रदर्शन में ही अपने इष्ट का दर्शन मान बैठते हैं वे भोले हैं। गहन गति को समझने के लिये दुर्गति, सद्गति से व्यक्ति यदि व्याकुल होता है तो वह कहाँ अग्रसर होगा ? अग्रसर है, अग्र अभिमान नहीं, मोह नहीं ऐसा भाव रखने वाला ही व्यक्ति धर्म की गति तथा गहनता पर अपनी मति अनुसार कुछ बातें स्पष्ट कर सकेगा। धर्म गहन है उनके लिये जो उसे (धर्म को) ग्रहण न करे। गति के अभाव में जीवन कहाँ ? शरीर में प्राणों की गति न हो तो प्राणी निष्प्राण हो जाता है। गति किस ओर है यह विचारणीय है।

धर्म मानव कल्याण में है या मानव संहार में ? संहार भी वही शक्ति करती है जो शृङ्गार करती है मानव तन का, मन का। शक्ति को यदि हम धर्म कहें तो प्रश्न होगा कि फिर धर्म क्या है ? धर्म शक्ति है प्राणी मात्र की और मानव कृत धर्म है नीति। शक्ति और नीति अपना भिन्न-भिन्न स्थान रखती हैं। शक्ति का प्रयोग किस प्रकार किया जाय कि वह नीति की कसौटी पर खरी निकले वहाँ नीतिज्ञता की आवश्यकता होती है। नीतिज्ञता व्यवहार पर अवलम्बित है। व्यवहार देश, काल, पात्र का भिन्न हुआ करता है इसीलिये मानव कृत धर्म में भिन्नता पाई जाती है। किन्तु वह धर्म जिसकी गति गहन है वहाँ भिन्नता नहीं, एकता है।

एक है प्राणी और एक है सृजन कर्ता फिर भिन्नता का स्थान कहाँ ? यह भिन्नता जो देखने में आती है वह प्राणी के अन्तःकरण के कारण है। प्रकाश सब के लिये समान है किन्तु उसी प्रकाश को प्राणी जैसा ग्रहण करता है वैसा ही लाभ उठाता है। प्रकाश में भिन्नता नहीं उसी प्रकार

धर्म एक है वहाँ भिन्नता कहाँ ? जहाँ भिन्नता है वहाँ यथार्थ धर्म कहाँ ? मानव कृत धर्म में अवश्य भिन्नता देखी जाती है।

धर्म की व्याख्या वचन नहीं कर्म हुआ करती है। बचनों की बहार तो सभी धर्मों में अति सुन्दर है किन्तु जब इन धर्मावलम्बियों के कार्य देखे जाते हैं तो क्षोभ भी होता है और आश्चर्य भी। कर्म मनुष्य के हृदय में धर्म का बीजारोपण करते हैं। यही बीज जब महान वृक्ष का रूप धारण करते हैं तथा फल को पाकर मनुष्य यथार्थ शान्ति पाता है तभी धर्म का वास्तविक रूप देखने में आता है। शिष्टाचार ऊपरी रूप है और धर्म वास्तविक। दिखलाना में यथार्थता का अभाव रहता है। यही अभाव मनुष्य के हृदय को अशान्त करता रहता है। धर्माचरण तो मनुष्य को शान्ति देता है क्लान्ति नहीं, भ्रान्ति नहीं। धर्मावलम्बियों का अपने धर्म का अनुपालन भी यदि उचित रूप से हो तो संसार की अनेक निरर्थक समस्याएँ हल हो सकती हैं किन्तु जहाँ वचनों में साधुता टपकती हो तथा हृदय में कूटनीति तथा स्वार्थ वहाँ मानव कृत धर्म भी उपाहासास्पद बन जाता है। शिष्टता का स्थान बुद्धि में है तथा धर्म का हृदय में। बुद्धि लाभ-हानि का निर्णय करने में सहायक होती है और हृदय लाभ-हानि पर उतना ध्यान नहीं देता जितना कि बुद्धि। मनुष्य ने बुद्धि का प्रयोग कर मानवकृत धर्म की स्थापना की किन्तु हृदय का धर्म कुछ और ही हुआ करता है।

हृदय में गति है, धर्म में भी गति है। धर्म की गति हृदय में जब प्रेरणा का कार्य करती है तो ऐसे हृदय वाला व्यक्ति किसी धर्म विशेष का नहीं होता विराट विश्व ही उसके हृदय में समा जाता है। ऐसे व्यक्ति अति अल्प हुआ करते हैं। धर्म ऊपरी आचरण को ही प्रधानता नहीं देता, वह तो

व्यक्ति को ऐसा स्पर्श करता है कि क्षुद्रता, कुटिलता, व्यवहारिकता को ही बदल डालता है। स्वच्छता एक गुण है किन्तु वह धार्मिक स्वच्छता किस काम की जो अन्य व्यक्तियों को हीन दृष्टि से देखने का प्रोत्साहन देती है। धर्म तो प्राणीमात्र के लिये प्रेम प्रसाद देता है और लेता है क्षुद्रता, मानसिक दरिद्रता, हृदय की कुटिलता, निरर्थक वाद विवाद के प्रहार को।

मानवकृत धर्मावलम्बियों में असहिष्णुता का प्राबल्य देखा जाता है यथार्थ धर्म तो ईश्वरीय देन है जहाँ हृदय विशालता का राज्य है। धर्म का अन्तिम लक्ष्य है उस सत्ता का परिचय जिसे सत्य कहा जाता है। उस सत्ता के परिचय के लिये अनेक पथ हैं - भक्ति, ज्ञान, योग। कर्म इन पथों में निहित है। कर्म शारीरिक भी मानसिक भी। शारीरिक कर्म देखने में आते हैं, मानसिक समझने में। समझकर देखना सब को नहीं आता। अधिकांश प्राणियों में पूर्व तथा वर्तमान धारणाएँ ही कार्य करती रहती हैं। ये धारणाएँ अधिकतर तामसिक तथा राजसिक होती हैं। इन दोनों गुणों की क्रियाएँ व्यक्ति के विकास को उतनी सहायता नहीं देती जितनी की सात्त्विक। ये गुण भी धारणाओं पर अवलम्बित रहते हैं। धारणा आधार चाहती है। आधार सूक्ष्म भी हैं और स्थूल भी। सूक्ष्म और स्थूल यों तो पृथक-पृथक माने जाते हैं किन्तु सूक्ष्म ही स्थूल रूप धारण करता है। प्राण सूक्ष्म, श्वास सूक्ष्म, शरीर स्थूल है। शरीर भी तीन प्रकार के माने गए हैं - स्थूल, सूक्ष्म और कारण। प्राणों में गति श्वास के द्वारा होती है। श्वास वायु से परिचालित। वायु आकाश का दूसरा रूप। प्राणी भी भगवान का दूसरा रूप। सूक्ष्म भगवान जब अवतार या धर्म प्रवर्तक के रूप में आता है, संसार के लोग आश्चर्य से देखते हैं उसे सताते हैं, कष्ट देते हैं तथा कालान्तर के पश्चात्

उसकी पूजा करते हैं यही क्रम चला आ रहा है सृष्टि के प्रारम्भ से किन्तु सत्य ऐसे लोगों की पहुँच से परे हैं।

सत्य में परिवर्तन नहीं, मानवकृत धर्म में परिवर्तन देखा जाता है। सत्य धर्म क्या है इसका अर्थ यह समझना कि सच्चा धर्म क्या है उचित न होगा। शिष्टाचार देशाचार के अनुसार होता है तथा मानवकृत धर्म देश, काल, पात्र के अनुसार। सत्य धर्म, देश, काल, पात्र की अपेक्षा नहीं रखता। संसार के प्राणियों में परिवर्तन देखा जाता सत्य में नहीं। वह न निराकार है और न साकार। उसकी न कल्पना की जा सकती है और न प्रत्यक्ष किया जा सकता है। मनुष्य की सीमित बुद्धि उस असीम का वर्णन कहाँ तक कर सकेगी। वेद शास्त्रों का प्रयास प्रशंसनीय है किन्तु नेति-नेति कहकर ही मनुष्य को विश्राम करना पड़ा।

सच्चा धर्म कहकर अनेक धर्मावलम्बियों ने अपने धर्म को श्रेष्ठ तथा महान कहा है और स्वर्ग का अधिकारी होने का सरल मार्ग भी उनका मानवकृत धर्म ही है किन्तु इन भोले तथा हठी मनुष्यों ने कभी यह सोचने और समझने का कष्ट न उठाया कि पृथ्वी उतनी ही नहीं है जहाँ वे वास करते हैं, ज्ञान की सीमा उनका धर्म विशेष ही नहीं है और भी कुछ है जहाँ तक पहुँचने के लिये न उनके पास समय है और न विशाल हृदय।

संकीर्णता धर्म नहीं धर्म तो अति विशाल है जहाँ मेरा तेरा धर्म कहने की आवश्यकता ही नहीं। ऐसे महानधर्म को अपनाने वाला व्यक्ति वाद-विवाद में समय नहीं बिताता। सत्य धर्म के उपासक के लिये सत्य स्वयं मार्ग का संकेत करता है, आवश्यकता है सत्य के पुजारी की। यों तो



सत्य का धर्म सत्य ही जाने किन्तु उसका प्रतिरूप शान्त कैसे रह सकता है ? धर्म धारण करता है सकल विश्व को तथा सम्पूर्ण संसार भी धारण किया हुआ है धर्म को। मानवकृत धर्म की तो कथा ही निराली है। अनेक स्थलों पर उसकी चर्चा की गई है अधिक चर्चा व्यर्थ है। धर्म ने एक ओर मनुष्य को जीवन प्रदान किया दूसरी ओर जीवन बिताने की कला भी सिखलाई। यदि व्यक्ति उससे लाभ न उठाये तो धर्म का क्या दोष। मनुष्य अपनी विशेषताओं से अनजान यदि पशुवत् जीवन व्यतीत करे तो यह होगा उसका दुर्भाग्य।

अनेक पंथ अनेकता उत्पन्न करते हैं, एकता नहीं। एक को माने तो एकता आये। अनेक देवी-देवताओं का उपासक किस किसको प्रसन्न करे। जो स्वयं ही प्रसन्न होना नहीं जानता तथा चाहता वह सत्य का प्रेमी कब हुआ ? धर्म का निरूपण शब्दों द्वारा बुद्धि बल पर किया गया है। बुद्धि और विवेक में अन्तर है। विवेकशील व्यक्ति किसी विशेष धर्म का उपासक नहीं होता। उसे सूझ प्राप्त होती है अज्ञात शक्ति से। धर्म न मिथ्या है और न भ्रामक। मानव धर्म के महान ग्रंथों ने (धर्म को) सदा पद दलित करने की चेष्टा की। जिसका आधार सत्य है वह दबता नहीं, उसे समझने के लिये निर्भीक व्यक्ति की आवश्यकता होती है। नीति गत धर्म का प्रयोग जब स्वार्थ सिद्धि के लिये किया जाता है तो अनीति का रूप धारण करता है। जहाँ नीति और अनीति का प्रश्न उठता है वहाँ विषय विवादग्रस्त हो जाता है और जहाँ विवाद है वहाँ सत्य धर्म का दर्शन दुर्लभ। नीति और विवाद आधुनिककाल की महिमा है। विवाद सत्य के लिये नहीं हुआ करता। होता है पांडित्य के लिये, प्रसिद्धि के लिये, स्वार्थ सिद्धि के लिये, मत मतान्तर प्रचार के लिये, भ्रम भ्रान्ति का जाल फैलाने के लिये।

विस्तृत विश्व में अनेक धर्म (मानव कृत धर्म) प्रसारित होते आये और होते रहेंगे।, सामयिक प्रचार को जब धर्म का रूप दिया गया तो उस समय विशेष के लिये तो वह प्रचार उचित रहा किन्तु जब उसे चिर शाश्वत् माना वहीं वह अनुपयुक्त सिद्ध हुआ। सत्य धर्म उपेक्षित ही रहा। इन मानवकृत धर्मों ने विश्व को महा युद्धस्थल बना रखा है। जहाँ काले, गोरे चर्म पर विधि निषेध का चक्र चलता है, वहाँ शान्ति कहाँ ? दरिद्र और धनाढ्य यदि एक ही मानवकृत धर्मावलम्बी हैं वहाँ भी विभेद की सृष्टि है, ऐसे धर्म को धर्म कहने में शर्म आनी चाहिये।

सृष्टि बनी किन्तु धर्म बना नहीं, वह तो सृष्टि बनने के पूर्व भी था और प्रलय के पश्चात् भी रहता है। मनुष्य की बुद्धि सीमित चाहे वह वेद, पुराण, कुरान, बाईबिल की रचना क्यों न करले। असीम की कल्पना दुर्लभ, प्राप्त करना तो असम्भव सा प्रतीत होता है। मनुष्य आज भी सचेष्ट है स्वर्ग को पृथ्वी पर लाने के लिये। यह कार्य मानवीय धर्म के द्वारा होना असम्भव है। सम्भव तभी होगा जब मनुष्य सत्य धर्म की जाने तथा मानवीय धर्म के बन्धन से मुक्त हो।

शिष्टाचार एक भिन्न भाव तथा कार्य है जो व्यक्ति के देशाचार पर अवलम्बित है। जलवायु से प्रभावित व्यक्ति अपनी सुविधानुसार शिष्टाचार का पालन करता है तथा सभ्य कहलाता है। साधारण कार्य तो सभी व्यक्ति करते हैं किन्तु शिष्टाचार का विशेष महत्त्व है। जिस व्यक्ति ने शिष्टाचार का पालन भी उचित रीति से न किया वह धर्म का पालन कर सकेगा यह विचारणीय है। सत्य धर्म पालन नहीं करना पड़ता वह तो व्यक्ति के रोम-रोम में समा जाता है। ऐसी अवस्था में व्यक्ति के प्रत्येक कार्य सत्य के

द्वारा परिचालित होते हैं तथा उन कार्यों को देख सांसारिक व्यक्ति केवल आश्चर्य ही प्रकट नहीं करते उसकी भिन्न-भिन्न आलोचना भी करते हैं।

सत्य धर्म आलोचना का विषय नहीं उसे पहिचानना होता है, वह भी मानवकृत धर्म की दृष्टि से नहीं। धर्म की निन्दा करने वाला, धर्म की निन्दा नहीं करता वह अपने दृष्टिकोण से प्रभावित होकर कुछ प्रलाप-सा करता है जो उसके लिये अशोभनीय है। सत्य धर्म की कोई क्या आलोचना करेगा। नमक की पोटली की तरह समुद्र में ही समा जायेगा। कथन वहाँ साथ न दे सकेगा, अनुभूति ही व्यक्ति का रोम-रोम पुलकित कर देगी। ग्रन्थों ने सत्य धर्म के कुछ लक्षण बताये, किन्तु कुछ तो सब कुछ नहीं। सब कुछ के लिये कुछ तुच्छ नहीं, किन्तु सब कुछ किसी एक पद्धति को मानकर नहीं चलता। वह समुद्र है जिसमें कितने ही मानव कृत धर्म नदी-नाले के रूप में आकर समा जाते हैं।

सत्य महान, सत्य धर्म महान। महान की प्राप्ति, महान हृदय वाला ही उसके गुण पर मोहित हो मानव कृत धर्म के मोह बन्धन से मुक्त हो पाता है। धर्म की विवेचना करना इस युग में अनर्गल प्रलाप समझा जाता है। जहाँ हृदय में संकीर्णता का वास हो वहाँ धर्म और वह भी सत्य धर्म के लिये स्थान कहाँ ? जहाँ स्थान नहीं वहाँ वास कहाँ ? जहाँ वास नहीं, वहाँ -त्रास उपस्थित। त्रास की अवस्था में श्वास-प्रवास भी कष्टदायक। ऐसा क्यों हुआ ? विश्व में तो आया व्यक्ति, किन्तु विश्वास किसका करे ? क्यों ? सत्य को नहीं जानता, सत्य धर्म को नहीं पहिचानता फिर विश्वास किस पर करे। इसीलिये कुछ धर्मों में “विश्वास लाओ” की बातें कही गई हैं। सत्य के लिये ऐसा कहना न बनेगा कि “विश्वास लाओ।” सत्य विश्वास

देता है “लाओ” का प्रश्न वहाँ नहीं रहता। वहाँ रहता है सत्य जो सब प्रश्नों से निवृत्त कर मनुष्य को प्रसन्न कर देता है, जो आज भी मानव कृत धर्म के बन्धनों के कारण सन्न हुआ बैठा है।

सत्य सन्न भाव मिटा वह प्रसन्नता देता है जो चिर शाश्वत है, जहाँ इन धर्मों की पहुँच नहीं। हाँ, शिष्टाचार की आवश्यकता है इस ऊपरी संसार में। सत्य धर्म को यदि जान न पाये तो कार्य तथा वार्तालाप में तो व्यक्ति शिष्ट बने यदि वह क्षणिक सुख का इच्छुक है। और धर्म, वह भी सत्य धर्म, वह तो सत्य की कृपा प्राप्त करवा सकती है।

\*\*\*

## अनजाने - अनमाने भगवान

अनजान तू अनमान मैं। तू भगवान मैं इन्सान। मैं छूटे तो है भगवान। ये प्राण, हैं नादान, यदि समझ न पाये तेरी शान। यदि हों कुर्बान या बलिदान तो क्यों होते अब तक परेशान, हैरान।

मेरे अनजान ! लोग तुझे भगवान क्यों कहते हैं ? क्या तू भगवा-वस्त्र पहनने वालों को ही मिलता है, श्वेत वस्त्रधारियों को नहीं ? बात जचती नहीं। रंग-बिरंगी दुनिया बना कर, रंग-बिरंगे प्राणियों का सृजन भी तू ने किया, फिर इन भगवा वालों पर ही क्या तेरी विशेष कृपा है ? यदि ऐसा होता तो तू पक्षपाती कहलाता, किन्तु बात ऐसी नहीं। भगवा वाले तो भाग खड़े हुये गृहस्थी की दुनिया से किन्तु तू तो भागने वाला नहीं अपने प्यारों से, जिन्हे साधारण जन भक्त कहते हैं याद रख तेरे प्यारे तेरा रूप जर्रे-जर्रे में देख प्रसन्न होते हैं।

बना रह तू अनजान, करता रह लोगों को परेशान, किन्तु तेरे प्यारों के लिये तू अनजान रह नहीं सकता। ये तेरा पीछा करते-करते आ पहुँचे हैं तेरे प्रेम द्वार पर। वे तेरा दरवाजा क्यों खटखटायें ? खटपट छोड़ कर ही तो तेरे दरवाजे पर आये। दर-दर भटकते फिरते थे तुझे पहिचानने के लिये। पुस्तकों में तेरे विद्वान भक्तों ने लिख मारा कि तू अनजान (अज्ञात) है। तू कभी अज्ञात रह न पाया अपने प्यारों से। अज्ञात, अज्ञेय कह कर लोगों के दिल में उत्साह पैदा किया या निराशा, यह तू ही जाने।

कभी-कभी निराशा भी अधिक उत्साह का इच्छुक बनाती है। निराश बैठने नहीं देती अज्ञात शक्ति। निराशा तो जीवन नहीं।

जीवन में प्रवाह है भाव का, विचार का, कल्पना का। जीवन को धारण करने वाला यह शरीर भी प्रवाह से स्थित है। प्रवाह रक्त का, वायु का, बख्त का। तुझे खोजने के लिये कौन-सा वक्त है ? क्या ब्राह्ममुहूर्त, जो तेरे ही नाम से प्रसिद्ध है। नहीं, ऐसी बात तो नहीं। भक्त कहते हैं सभी समय, तेरा समय यदि, पुकार सच्चे दिल से हो।

मेरे अनजान ! तुझे पाने के लिए ज्ञान की आवश्यकता है, ध्यान की जरूरत है ऐसा विद्वानजन कहते आये। भक्तों को तू ने कौन-सा ज्ञान दिया या ध्यान कि वे तुझे भूल ही नहीं पाते और पाते हैं विश्राम और आराम। ये वेद-शास्त्र वाले कहते हैं कि तेरा पाना असम्भव है। ये भक्त तो न वेद पढ़ते हैं और न शास्त्र, फिर तुझ अनजान की चर्चा में मग्न कैसे रहते हैं ? अद्भुत बातें कहते हैं जो वेद-शास्त्र में उस रूप से नहीं पाई जाती। अजब गोरखधन्धा है। किसे ठीक माना जाये इन ग्रन्थों को या भक्तों के वर्णन को ?

सुना है ज्ञान बुद्धि बल पर होता है और भक्ति हृदय के समर्पण से। किन्तु अनजान को कौन अपना हृदय समर्पण करेगा ? भक्तों के लिये तू अनजान नहीं ऐसा भक्त कहते हैं। बुद्धि और हृदय में कौन महान ? यदि तुलना की जाय तो भक्त बुरा मानेंगे। वे तर्क-कुतर्क पसन्द नहीं करते। वे कहते हैं - है तुममें इतनी बुद्धि कि तुम उसे समझ सकोगे जिसे तुम अनजान (अज्ञात, अज्ञेय) कहते हो। स्थूल जगत में अनजान से परिचय

करना सम्भव है, किन्तु सूक्ष्म जगत में यह सम्भव नहीं ये बातें बुद्धिवाले कहते हैं। बुद्धिगत यह बात ठीक मालूम होती है, किन्तु मन की बेकली इसे कैसे स्वीकार करें।

इस मन की गति महान है। गति अवरोध को यह मानता नहीं। शरीर परित्याग के पश्चात् भी अतृप्त मन अन्य कलेवर धारण करता है। वर यदि न मिला इस जीवन-काल में तो यह शान्त रहने वाला नहीं। वर की तलाश करते-करते ही इसने चौरासी का चक्कर लगाया तथा इस जीवन में भी यदि वर की प्राप्ति न हुई तो क्या यह चैन से बैठ सकेगा, कदापि नहीं। इसे वर चाहिये, कलेवर नहीं। यदि कल ही वर मिल जाये तो यह कलेवर का इच्छुक नहीं। शरीर का वर भी कन्या के लिये प्रथम अनजान ही था और मन का वर तो आज भी अनजान है तभी तो उस वर को कभी वस्तुओं में खोजता है और कभी पुस्तकों के ज्ञान में, ध्यान में। कभी निराकार में कभी साकार में। कभी मन्दिर में, कभी वन-उपवन में। खोज जारी है। रोज -रोज रोता है उसके वियोग में और कहता है मेरे अनजान ! तुम्हें कहाँ खोजूँ, कहाँ पाऊँ, कैसे हृदय की जलन मिटाऊँ। मिट जाऊँ, उफ न करूँ, यदि किसी तरह अनजान तुझे पा जाऊँ। यदि पाऊँ तो क्यों कहीं जाऊँ ? मंगलगान सुनाऊँ, तुझी में रम जाऊँ, किन्तु मेरे अनजान ! क्या कभी वह शुभ घड़ी भी आयेगी इसी जीवन-काल में ? यह मन का प्रश्न है जो सभी सांसारिक वस्तु पाकर भी बैचेन है अनजान के मिलन के लिये।

मेरे अनजान ! बुद्धि कहती है कि तुझे पहचानने के मार्ग भी अब तक अनजान हैं। ये भिन्न-भिन्न धर्मावलम्बी दम भरते हैं कि तुझे पाने के

लिये उनका धर्म, उनकी प्रणाली श्रेष्ठ है। यदि यह बात सत्य होती तो संसार में एक ही धर्म होता, एक ही प्रकार की मान्यता होती किन्तु यहाँ तो वाद-विवाद फैला हुआ है, शान्ति शायद ही किसी को हो। अनजान है इसीलिये उसके प्राप्ति के पथ भी अनजान, ऐसा होना स्वाभाविक है, ऐसा कहने वाले भी अनेक बुद्धिमान हैं।

अनजान के नाम पर मनमाने पन्थ बनाना और रीति-रिवाज चलाना अज्ञान है या ज्ञान, यह विचारणीय प्रश्न है। वायु लोक में सर्वत्र वायु है। स्थान विशेष के कारण वायु में परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है, किन्तु यह अन्तर वायु में नहीं, स्थान विशेष के कारण प्रतीत होता है - वायु वायु ही है उसी प्रकार अनजान की अनुभूति है। कोई उसे अद्वैत कहकर मानता है और अन्यजन विशिष्टाद्वैत द्वैताद्वैत आदि भाव से, किन्तु यह तो उनकी अनुभूति के कारण है, अनजान अब भी अनजान है। तुलसीदास की यह पंक्ति इस भाव को इस प्रकार स्पष्ट करती है - “जाकी रही भावना जैसी, प्रभु मूरति देखी तिन तैसी”। मेरे अनजान ! यह जान बेजान हो रही है, अब तू ही बता यह कैसा खेल हो रहा है तेरी दुनियाँ में ? तू हँसता होगा इस खेल को देखकर या निरपेक्ष बैठा होगा।

अनजान के सभी कार्य आज तक अनजान हैं। व्यक्ति चाहे प्रसन्न हो ले अपनी बुद्धि के निर्णय पर, किन्तु अनजान को ये ज्ञान-विज्ञान वाले शायद ही जान पायें जो दो दिन के मेहमान बन कर आये हैं इस दुनियाँ में। विज्ञानी तेरी शक्ति की महिमा का प्रकृति के विशेष गुणों से लाभ उठा रहे हैं तथा तुझ अनजान को अमान्य कर बुद्धि पर सान पर सान चढ़ाते हुए अपनी शान बघारते हैं अनमाने अर्थात् अमान्य घोषित कर “अनजाने



अनमाने भगवान’’ की दिल्लगी उड़ाते हैं। यह कहाँ तक उचित है कि पुजारी के अभिमान के कारण ठाकुर उपेक्षित समझा जाये ? स्वर्ग की टिकट बेचने वालों ने भगवान की जितनी अधिक निन्दा करवायी तथा उसे (भगवान को) उपहासास्पद बनाया उतना शायद किसी और ने नहीं। अनजान का क्या दोष ? यदि वे उस अनजान को जान पाते तो इन टिकट बेचने वालों के हाथ में ही टिकटें रह जातीं और ये विज्ञान वाले भी विज्ञान से लाभ उठाते हुए अनजान के प्रति इस प्रकार की बातें न कहते और न घृणा प्रकट करते। ऐसा हुआ कहाँ ? यदि ऐसा होता तो सांसारिक सुख भोगता हुआ विज्ञान का उपासक अनजान का भी उपासक होता।

अनजान की बातें जानने के लिये प्रथम संसार से अनजान बनता है वह व्यक्ति जिसे अनजान से प्रेम है। अनजान का प्रेम भी दुनिया के लिये अनजान है। सांसारिक प्रेम का मोह इतना प्रगाढ़ होता है कि उसे अनजान का पता भी नहीं लगने देता। देता है भ्रम जिसे वह छोड़ नहीं पाता जब तक कि अनजान से परिचय न हो। अनजान का परिचय भी बड़ा विचित्र होता है, क्योंकि पार्थिव उपलब्धियाँ इस कार्य में सहायक नहीं होती। शरीर के भान, ज्ञान, शान, अभिमान से घिरा हुआ व्यक्ति वृत्तियों के चक्कर में इतना परेशान रहता है कि वह जान ही नहीं पाता कि वह कहाँ रहता है। वह (व्यक्ति) वह (अनजान) कहाँ रहता है यह यदि व्यक्ति बुद्धि के बल पर जानना चाहे तो उसका (अनजान का) जानना असम्भव है। प्राण का स्थान यदि बुद्धि लेना चाहे तो यह कैसे सम्भव हो सकता है ? बुद्धि अनजान का निर्णय ही कैसे कर सकती है ? जिसे बुद्धि जानती है उसके निर्णय में ही भूल कर बैठती है, फिर जिसे जानती नहीं उसका निर्णय करना तो असम्भव ही है।

कैसा ज्ञान ? क्या ज्ञान ने अनुभव किया है कि अनजान ऐसा है ? यदि ज्ञान के द्वारा अनजान जाना जाय तो वह अनजान नहीं ज्ञान का अभिमान या कल्पना होगी जो कि यथार्थ नहीं। ज्ञान का आधार लेकर चला वह परेशान ही हुआ। महा ज्ञानियों ने वेद-शास्त्रों में विशद् वर्णन किया अन्त में यह कहने के लिये उन्हें बाध्य होना पड़ा कि इन बातों में ही अन्त नहीं, यही अन्त नहीं, वाह रे अनजान ! खूब छकाया इन ज्ञानियों को। तू तो बस में हुआ उन पागलों के, जो तेरे नाम पर ही पागल हो गये और फिर खोजा नहीं तुझे, तू ही दौड़ता हुआ आया भाव में उन पागलों को सम्भालने, क्योंकि उन्होंने ज्ञान का आधार न लिया था, लिया था तेरा नाम, प्रेम विभोर होकर। भोर हुई और तेरा आनन्द प्रकाश सब दिशाओं में प्रतिभासित होने लगा। पागलों ने निशा निद्रा में न बिताई थी - बितायी थी तेरे प्रेमाग्नि के विरह में।

मनुष्य अनजान से ही अनजान नहीं, अपने जीवन से भी अनजान है। उसे पता नहीं कब उसके पार्थिव कलेवर का अन्त होगा। समय बीत रहा है चिन्ता में या कार्य में अथवा कार्य की चिन्ता में। क्यों आया था और क्यों जा रहा है, उससे भी वह अनजान बना कार्य में रत है। इन्द्रियों को थका मारा, फिर भी उसे सन्तोष नहीं। अजब मानव जीवन है जहाँ विश्राम नहीं मन के लिये, तन के लिये। पशु अनजान को जान न सका लाचारी है, किन्तु यह मनुष्य भी पशुवत् जन्म बिता रहा है। खेद का विषय है काल का प्रवाह और कार्य का प्रवाह निरन्तर बहता चला जा रहा है। कहाँ जा रहा है और क्यों जा रहा है, इसे सोचने का समय भी आज मनुष्य को नहीं है।

हे अनजान ! तू सब के लिये तो अनजान न रह, अन्यथा तेरा सृष्टि का निर्माण ही व्यर्थ होगा और निर्वाण तो अति दुर्लभ ही रहेगा।

मानवकृत धर्म भी फैला तो मानव को भ्रमित करने के लिये। दम्भ में ही इन धर्मावलम्बियों का समय बीत रहा है। उपवास और रोजा, ध्यान और ज्ञान का मार्ग कहाँ तक मानसिक शान्ति दे सका। मन यदि व्याकुल न हुआ अनजान की पहिचान के लिये तो मार्ग (आनन्द पथ) प्रशस्त कब हुआ ? जिस लगन से मनुष्य जीविका उपार्जन करता है तन की रक्षा के लिये यदि उसी लगन से वह लगता अनजान की पहिचान के लिये तो अनजान अनजान न रहता, परेशान न रहता।

तन से अधिक महत्त्व मन का है। मन में चैन नहीं, तो तन की रक्षा विशेष अर्थ नहीं रखती। भोजन से सार ग्रहण कर तन अन्य पदार्थों का त्याग करता है मल-मूत्र के रूप में, किन्तु यह अवस्था मन की कहाँ ? वह निरर्थक विचारों का परित्याग कहाँ कर पाता है ? संकल्प-विकल्प के रूप में विचारों की चक्की चलती ही रहती है जब तक बुद्धि निर्णय नहीं करती। निर्णय का परिणाम यदि हितकर न हुआ तो मन पुनः बेचैन होता रहता है।

अनजान ! इच्छा या कामना का खेल ही विश्व में प्रधान देखने को मिलता है। भक्त और ज्ञानियों ने साधक और महामुनियों ने कामना को अनुचित ही नहीं बुरा भी माना है, किन्तु कामना न होती तो न अनजान की पहिचान सम्भव थी और न विश्व। बुरे-भले की परिभाषा मनुष्य बदलता आया है। त्याग और भोग में अति अल्प त्याग को श्रेष्ठ मानते हैं किन्तु भोग की अग्नि में तो अधिकांश जलते हुए भी उसकी प्राप्ति के लिये केवल व्यग्र ही नहीं, समग्र शक्तियों का अपव्यय कर रहे हैं। करें और उसका दुःखद परिणाम देखें और भोगें। मन की शान्ति वस्तु त्याग में नहीं, कुछ

ऐसे भाव ग्रहण में है जिन्हें पाकर स्वतः त्याग होता है और स्वतः भोग जिसे कहना कल्पना कहलायेगा अनुभव ही उसकी सत्यता स्वयं प्रकट करेगा।

मेरे अनजान ! लोग तुझे जानते नहीं, क्या इसीलिये तेरा अपमान करते हैं ? तू इनके लिये अदृश्य है अतः अदृश्य का अपमान कौन कर सकता है ? अनमाने (अर्थात् तेरा सम्मान नहीं) यदि ये तेरा सम्मान करना जानते तो ये गुणगान अपना नहीं सुनना चाहते, तेरे ही सम्मान में अपना सम्मान समझते। तब यह संसार दुःख का भण्डार न होता, होता कुछ ऐसा होता कि स्वर्ग, नरक की चर्चा ही न होती। किन्तु इस युग में ऐसी बातें कहना अपमानित होना है इनके द्वारा। अनमाने की प्रशंसा करना महा अपराध है इस युग में। मान सम्मान के भूखे इन मानवों का दानवों जैसा व्यवहार हो रहा है। न भगवान और न उसका सम्मान की प्रति क्रिया को देखकर ही इन्सान को होश न हुआ कि इस स्वर्ग सदृश्य दुनिया में विचारों का कैसा तूफान आया हुआ है कि पृथ्वी के किसी कोने में भी शान्ति नहीं। शान्ति इनकी दृष्टि में मृत्यु का दूसरा नाम है अतः अशान्त जीवन ही इनका परम लक्ष्य है। निरर्थक चिन्ता तथा कार्य समूह ने इनके जीवन को अभिशाप बना रखा है।

वरदान को यदि अभिशाप का रूप दिया जाये तो अनजान का क्या दोष। प्रकृति की ताल पर नृत्य करने वाला प्राणी पुरुष को न जान उसकी प्रकृति को भी न पहिचान यदि कार्य रत रहे तो दोष किसका ? प्रकृति का या पुरुष का या प्राणी का ? वास्तव में यह प्रश्न जटिल है। जटिल को सरल बनाने तथा सरस वर्णन करने का प्रयास किया प्राचीनकाल के ऋषि मुनियों

ने किन्तु आज तो कुछ ऐसी हवा बह रही है कि न उन ग्रन्थों का अवलोकन हो रहा है और न उनके प्रणेताओं का सम्मान। जहाँ अनजान का अपमान वहाँ इन महा पुरुषों का कौन करता है ध्यान। कुछ कर्म के गीत गाते और ज्ञान, ध्यान को व्यर्थ बताते और महा पुरुष कहलाते। सूक्ष्म जगत की अवहेलना करने वाला व्यक्ति उसके रहस्य को क्या जाने ? स्थूल में ही रमण, वहाँ अनजान, अनजान ही रहा।

सृष्टि का सुधार यदि व्यक्ति ही कर पाता तो सृष्टि कर्ता भी प्रसन्न होता तथा प्राणी सुख से रह पाते किन्तु ऐसा हुआ कहाँ ? यश और सम्मान के बुभुक्ष प्राणी ने कुछ बातों में परिवर्तन लाने की चेष्टा की, कुछ सफलता भी प्राप्त हुई किन्तु उनका सुधार तो पीतल था, सोना नहीं। चमकता हुआ पीतल धोखा दे सकता है कुछ समय के लिये किन्तु स्वर्ण की प्रभा को कैसे पा सकेगा ? ये कर्म के गीत आज उनको सुनाये जा रहे हैं जो इन कर्मों के मर्म को जानते हुए भी चुप हैं। चुप हैं क्यों कि इन बुद्धि प्रधान दादुरों की तीव्र टरटराह में मधुर शब्द विलीन न हो जाते अतः चुप रहना ही श्रेयस्कर है।

वाद-विवाद, निरर्थक संघर्ष में शक्ति अपव्यय करने वाले व्यक्ति को अनजान के भक्तों की बातें कब अच्छी लगी। यदि लगती तो मनुष्य सुख शान्ति से रह पाता इस धराधाम पर। अनजान ! इस अबोध, अभिमानी प्राणियों को क्षमा करो, ये जानते नहीं कि ये क्या कर रहे हैं।

ज्ञान का दूसरा रूप ज्ञान है। शक्ति को न जानता हुआ व्यक्ति अपने बुद्धि बल पर निरर्थक अभिमान करने वाला कष्ट उठाता है तथा

अन्य जनों के लिये विपत्ति का कारण बनता है। विश्व का चक्र चलता ही रहेगा और यह विचारों का उपद्रव भी किन्तु यदि व्यक्ति अनजान को जान पाता तो सभी कार्य विश्वहित के लिये विषवत् न होते। अनमान (सम्मानरहित) कर यदि व्यक्ति सन्तोष ले पाता तो कुछ अंशों में क्षम्य होता। व्यक्ति का यदि आदर न हो तो वह क्रुद्ध हो जाता है किन्तु निरर्थक अभिमानवश वह दूसरे व्यक्ति का आदर करना नहीं चाहता। स्वयं चाहे और दूसरे का करना न चाहे, यह व्यवहार क्या उचित है ? यदि किसी दूसरे व्यक्ति का सम्मान होता हुआ देखता है, यह भी उसे पसन्द नहीं ? प्रश्न यह नहीं है कि वह अनजान का आदर क्यों नहीं करता, प्रश्न यह है कि वह आदर चाहता क्यों है ? अभिमानी को यदि सम्मान न मिले तो वह तिलमिला उठता है। आदर तो वह करता है जो आदर का भूखा नहीं। साधारण सी बात है कि आदर करने वाले को ही आदर मिलता है। आदर अनादर का प्रश्न नहीं। “श्रद्धावान लभते ज्ञानम्”। श्रद्धा क्या करेगा वह व्यक्ति जो आदर भी करना नहीं चाहता।

जिस ज्ञान की ओर सकेत है, वह तो आत्मज्ञान है। न उसको आत्मा को जानना है और न अनजान को उसको तो वह ज्ञान चाहिये जिसके द्वारा वह अन्य जनों को अधिक धोखा दे अधिक से अधिक अर्थोपार्जन कर सके। अर्थ उपार्जन करे किन्तु धोखा क्यों दे ? धोखा तो उसका महा अस्त्र है यदि वह उसका (धोखे का) प्रयोग न करे तो अधिक से अधिक धन संग्रह में असफल रहेगा यह उसका सिद्धान्त है। वाह रे सिद्धान्त, कैसा दुरपयोग किया गया है सिद्धान्त शब्द का। घृणित भावना ने भव को कैसा बना दिया जहाँ सरल चित्त वाले के लिये रहना भी दुश्वार हो रहा है। सरल (चित्तवाला) तो यह विचारों का गरल पान न करेगा।

“अनजाने अनमाने भगवान” की धोखेबाज व्यक्ति को आवश्यकता नहीं। हाँ, यदि कभी उसका धोखा प्रकाश में आ गया तथा उसी कारण उसके दण्डित होने का अवसर आ जाये तब तो वह भगवान क्या देवी, देवताओं के सम्मुख भी नाक रगड़ेगा। ऐसे लोगों को इन्सान कहा जाय तो फिर हैवान कौन होगा ? विधाता का सर्वश्रेष्ठ नमूना इन्सान की यह अवस्था अवश्य ही शोचनीय है।

प्रकृति की प्रत्येक कृति कुछ अर्थ रखती है। अणु, परमाणु का संघर्ष जीवन है। जीवन में यदि शान्ति नहीं तो मनुष्य कार्य करता हुआ भी बेचैन रहता है। इस बेचैनी को कम करने के लिये मनुष्य को कुछ आधार लेना होता है। “होता है वही जो मंजूरे खुदा होता है” कह कर अकर्मण्यता को प्रश्रय देना मुनष्य को शोभा नहीं देता। आधार सुन्दर विचारों का, अनजान का। वायु लोक का प्राणी, वायु और आयु का खेल देखना भी नहीं जानता। जानता है धोखा देना और धोखा खाना।

प्रत्येक पृष्ठ पर अनजान की पहिचान के लिये बार-बार शब्द दोहराये गये हैं। विद्या से अनजान था, व्यापार या जीविका से भी अनजान था जब जीव बालक था, युवा था। किन्तु अनजान से अनजान रहा जीवन के अन्तिम श्वास तक। अतः जिन्दगी का अन्त हुआ बेचैनी में। प्रकृति ने न किसी को व्याकुलता दी है और न पुरुष ने। फिर भी मनुष्य बेचैन रहता है। बड़ी-बड़ी आशाओं ने उसे विचारों के उस झूले में झुला रखा है जो चक्कर अधिक खिलाता तथा आराम कम। कम के गम में मनुष्य दिन रात काम करता हुआ भी इस मन की कमी की पूर्ति नहीं कर पाता। पाता है

थकावट जो मन, तन को शान्ति नहीं लेने देती। अनजान, अनजान ही रहा और अनजान का सम्मान करने का प्रश्न ही न रहा।

कुछ लोग अनजान भगवान की माला फेरते हुए भी नजर आते हैं माल कमाने के लिये। यह माल भी उनके मन का मल है जो उनके हृदय-कमल को खिलने नहीं देता। देता है चिन्ता उसकी (माल की) रक्षा के लिये। जो अपने प्राणों की रक्षा भी नहीं कर पाता, वह इस पार्थिव माल के लिये क्यों बेचैन हो रहा है ? दोष उसका नहीं, उसने देखे हैं ऐसे व्यक्ति जो साधु, सन्यासी होते हुए भी इसी माल की माला फेरते हैं हृदय से। ऊपरी वस्त्र गैरिक, भीतरी वस्त्र माल के लिये बेचैन, ऐसे महा पुरुषों के महावाक्यों का प्रभाव कैसा होगा इसे आसानी से समझा जा सकता है। हृदय की पुकार जब हृदय को स्पर्श करती है वहाँ हृदय में बैठी हुई माल की चाह कौन सी राह बतायेगी। बात स्पष्ट है जैसा देव वैसा ही पुजारी। ये पंक्तियाँ कटु प्रतीत होती हैं किन्तु सत्य सदा नहीं कभी-कभी कटुप्रतीत होता है। कटु प्रतीत होना तो कटु नहीं। गृहत्यागी भी हृदय से माल न त्याग सका तो इन गृहस्थियों का क्या दोष ? मेरे अनजान ! कहना और लिखना व्यर्थ सा प्रतीत होता है ऐसे लोगों के लिये जिनके भीतर और बाहर भिन्न-भिन्न खेल हो रहे हैं।

भिन्नता खिन्नता का कारण बनती है। व्यक्ति समझ ही नहीं पाता कि वह क्या व्यक्त कर रहा है। मानसिक विचारों का द्वन्द, इन्द्रियों का संतुलन हीन होना व्यक्ति के लिये चिन्ता का कारण बनता है। कारण और कार्य का चक्र असीम, जब तक असीम अनजान से परिचय नहीं। मेरे अनजान ! प्रवाह प्राणी के प्राणों में है या प्रकृति की प्रकृति है। अनजान



प्राणी, अनजान की शक्ति से भी अनजान है। संघर्षमय जीवन यदि संघमय होता या संग ही होता सत्पुरुषों का, जीवन कुछ और ही होता।

अनजान की पहिचान अनजान ही करवाता है। प्रथम भाव, विचार से अनजान था व्यक्ति। कुछ ऐसे भी व्यक्ति आये, जिन्होंने पुरानी मान्यताओं का जीर्णोद्धार किया। सर्प, वृक्ष की पूजा करनेवाले ने ब्रह्म अनुभूति का परिचय प्राप्त किया, किन्तु अब भी ऐसे व्यक्ति हैं, जो सर्प, वृक्ष की पूजा में लगे हुए हैं। बाहर की पूजा ने जब भीतरी पूजा का रूप धारण किया तो बाहर का रण बन्द हुआ और वन्दना प्रारम्भ हुई आत्मदेव की, बलदेव की। जीवन का आनन्द स्रोत तो भीतर है, जिसे साधारण जन बाहर खोजते-खोजते परेशान होकर चल बसे इस दुनिया से। अनजान, अनजान ही रहा। भेंट न हुई, भेंट कर न सका प्राणों को जो अनजान प्रदत्त महानिधि थी।

मेरे अनजान ! कृपा कर इन प्राणियों पर जो तुझे न जानते हुए भी तेरा अपमान करते नहीं लजाते। तू भगवान है भक्तों के लिये, प्राण है पागलों (पागल भक्तों) के लिये, शान है ज्ञानियों के लिये, कुर्बान प्राणीमात्र पर - फिर भी तू अनजान, अनमान भगवान है।

\*\*\*

## आज तेरा साज या राज

आज तेरा साज बज रहा है श्वास, प्रश्वास में और राज है हृदय पर। विराजमान है जल, स्थल, अग्नि, वायु, व्योम में। सोम चमक रहा है, रवि छवि देख रहा है, प्रकृति पुरुष की। पुष्प सौरभ लुटा रहा है मस्त होकर, धरा ने धारण की है हरि की साड़ी हरियाली के रूप में। तेरा साज ही ऐसा है कि रोते को हँसाये, हँसते को मस्त बनाये, मस्त को पागल बनाये, पागल को हृदय से लगाये और अन्त यहीं नहीं, हृदय में बसाये। अब तेरा वह साज बजा कि आ गया जिन्दगी का मजा। दूर हुई सजा, कजा तन, मन की। तेरा साज ही ऐसा है, जिसने बजाया वह तेरा ही हो गया और गया कुछ ऐसा करके गया कि आज भी लोग उसे याद करते हैं भक्त के रूप में, भगवान के रूप में।

साज नवीन, साज प्राचीन। नवीन कलेवर, प्राचीन संस्कार। प्राचीन, नवीन की एक ही बीण। जब बजी तो प्रकृति सजी। सजी, कुछ ऐसी सजी कि प्राणी उसी पर मुग्ध हो गया और भूल बैठा परम पुरुष को। परिणाम ? प्रणाम न किया प्रकृति को और न परम पुरुष को। सजावट (प्रकृति की) सजा में बदली और कामना ने वट-बीज का रूप अपनाया और विस्तार, विष तार बन गया। ऐसा मीठा विष जिसने क्षय किया मानव तन को, मन को । विजय-वीण थी, साज था श्वास, प्रश्वास में और राज था हृदय पर, किन्तु केवल प्रकृति के उपासक को प्रेम के लिये उपवास ही करना पड़ा।

साज बज रहा है, बे-आवाज बज रहा है, क्या इसीलिये प्राणी अनभिज्ञ है साज से, साज की आवाज से ? यदि सुन पाता आवाज, बे-आवाज साज की तो आनन्द-विभोर हो जाता प्राणी और उसे भोर और शाम का पता न लगता, रात बात-की-बात में बीतती। जीवन-प्रभात नवीन कार्य लेकर आता पुष्पमाला के रूप में और अब कार्यकलाप भार न प्रतीत होते। प्रीति होती जग से, जीव से, जीवन से।

तेरा साज ही अनोखा जो श्वास-प्रश्वास के तारों के रूप में बजता है, किन्तु बे आवाज। बे आवाज है, अतः अन्तिम क्षण तक प्राणी उसका लाभ ही नहीं उठा पाता। परिवर्तन की घोर निशा के पश्चात् कुछ नशा उतरा तो प्राणी ने अपना दूसरा कलेवर धारण किया। नशा था काम का, क्रोध का, अभिमान का। पट परिवर्तन हुआ अन्य कलेवर के रूप में, किन्तु कपट तो दूर न हुआ हृदय से। और साज की आवाज चूँकि वह बे-आवाज थी अतः सुन न पाया। पाया, कुछ ऐसा पाया कि सब कुछ गँवाया और हाथ कुछ न आया। आया दुःख चिर-संगिनी चिन्ता के साथ। हाथ पर हाथ धर कर बैठ गया प्राणी क्योंकि चिन्ता ने उसके हृदय पर आक्रमण किया था। हृदय बेचैन अब कैसे सुने तेरा साज जो बे-आवाज है। तेरे राज में रहनेवाला मानव, न माने और न नवे (नमन करे) वह तेरा राज (रहस्य) कैसे समझे ?

तू अनजान और तेरा साज-बे आवाज समस्या बन गई बुद्धि प्रधान मानव के लिये जिसे इतनी भी बुद्धि न हुई कि राज किसी का, मान बैठा प्रकृति का, क्योंकि वह अब ज्ञानी था विज्ञानी था और उसने बनाये ऐसे साज-बाज कि तेरे साज की उपेक्षा ही रही। प्रकृति के राज (रहस्य)

को तो कुछ अंशों में समझा किन्तु तेरा राज और साज उपेक्षित ही रहा। रहा इसी जगत में अनेक प्राणियों के वेश में, किन्तु रिहा (मुक्त) न हो सका चिन्ता से, दुःख से। फिर जगत में रहना क्या काम आया, जो सदा कहता रहा कि कम आया जो कुछ उसने जग में कमाया इसलिये गम आया, क्योंकि कम आया उसने कहना कभी न छोड़ा।

छूट गया सब यहीं किन्तु उसने दिल से कुछ न छोड़ा, न काम, न क्रोध और न अभिमान। अभिमानी अपने साज-बाज के लिये सदा बातें बघारता रहा, वह अनजान के साज की ओर क्यों ध्यान देने लगा। उसे तो अभिमान का ऐसा चसका लगा कि चसकता (हल्की पीड़ा अनुभव करता) रहा काम, क्रोध, अभिमान की पीड़ा से। चश्मा न उतारा उसने स्वार्थ का-सारथी के साज-बाज पर क्यों ध्यान देने लगा। लगा दुनिया के काम-धन्धों में कि अन्धा हो गया काम के भार से, स्वयं से।

स्वयं अन्धा न था वह तो बन्दा था खुदा का किन्तु जो खुद को न जाने उसे खुदा से क्या वासता और पकड़ा ऐसा रास्ता जो बीहड़ था जीवन के लिये, अब कहाँ तेरा साज और कहाँ तेरा राज। राज था कामना का, वासना का, जो सना हुआ था दुःख, चिन्ता से। चिन्ता, चिन्ता बनी और चित्त व्याकुल। जीवित अवस्था में ही जलता रहा, जलाता रहा, दुनियाँ में, दुनिया को, जलन यदि शान्त होती और सुनता किसी की बात कि तेरे श्वास, प्रश्वास में किसी अज्ञात का साज बज रहा है, तब न मुक्त हो पाता चिन्ता से। पाया तो था अमूल्य जीवन किन्तु उसे अमूल्य अर्थात् बिना मूल्य का समझ यों ही बिताया और हाथ कुछ भी न आया। “हीरा जन्म अमूल्य था कोड़ी बदले जाय” कबीर की इस उक्ति को ही सिद्ध

क्रिया प्राण गँवाकर। साज, तेरी आवाज यदि बेआवाज न होती तो शायद तेरी झंकार झंकृत कर देती हृदय प्रदेश को और दिखला देती उस देश को, जहाँ प्राणी का प्रीतम बसता है और तरसता है प्यारों के दर्शन के लिये।

साज और राज दो शब्द हैं। एक को कोई बजाता है और दूसरे के लिये बजने लगते हैं युद्ध के दमामें और बजते ही रहते हैं, जबतक मनुष्य का दम नहीं टूटता। कैसा आश्चर्य है, दोनों ही बजते रहते हैं। एक को देख नहीं पाता मनुष्य और दूसरे को देखता हुआ कभी उत्साहित होता है और कभी भयभीत। भय जिसका मीत है वह भयभीत होगा ही और अभय का मीत तो प्रीति करेगा अभय से जिसे भय देखकर भयभीत होता है।

भयभीत व्यक्ति साज और राज को क्या समझे। साज उसके लिये सांसारिक वस्तुओं के द्वारा शरीर सजाना या घरबार सजाना, जहाँ वह वास करता है या व्यापार करता है तथा राज, जिस देश में वह रहता है वहाँ का राज। ऐसा व्यक्ति तेरे साज या राज को क्या समझे ? सचमुच में अधिकांश व्यक्ति तो जैसा चाहते हैं वैसा वे न अपने को सजा पाते हैं और न घर-बाहर को। राज उनके लिये भय का कारण बन जाता है, उनके कार्य ही ऐसे होते हैं जो राज्य के लिये हितकर न होकर, राज्य को धोखा देने के कारण बनते हैं।

तेरा साज और राज तो उनके लिये सुखप्रद होते हैं, जिनका जीवन तेरे ही चरणों पर समर्पित है। सभी नदियाँ समुद्र में समाहित नहीं होती। साधारण जन तो गन्दे नाले की तरह हैं जो नदी के स्वच्छ जल को भी केवल गन्दा ही नहीं, दुर्गन्धमय बना देते हैं। ऐसे लोगों की बातें तो सभी

शीर्षकों में की गई किन्तु अभिप्राय उनकी निन्दा करना नहीं रहा है, केवल वर्णन मात्र रहा है। किसी को निन्दित करना संत साधकों का कार्य नहीं, यह तो उन समाजों का है, जो अन्य धर्म तथा समाजों की निन्दा करके भी सन्तुष्ट नहीं होते।

साज की आवाज बे-आवाज है ऐसे साज का ज्ञान भी अति अल्प मुनष्यों को है। प्रदर्शनकारी बाहरी क्रियाकलाप को ही प्रधानता देते हैं। कहीं अजाँ का घोष हो रहा है तो कहीं घंटा, घड़ियाल की ध्वनि ही सुनाई दे रही है वहाँ बे आवाज साज की चर्चा करना निरी अज्ञता ही है। हो अज्ञता, सत्य का उपासक, सत्य वार्त्ता की चर्चा भी न करे, यह कैसे हो सकता है। प्रदर्शन में कहाँ तक सत्य का अंश है यह कहना कठिन है किन्तु दर्शन वह भी दिव्य चक्षु द्वारा, जिसे अनुभव कहना भी ठीक नहीं जचता, सत्य की कृपा से ही होता है। वहाँ घोष नहीं, रोष नहीं, है सन्तोष जो सन्त की अनुकम्पा से ही प्राप्त होता है। सन्तोष लेना तथा सन्तोष प्राप्त होना एक सा नहीं। लेता है (सन्तोष) बुद्धि बल के द्वारा वहाँ कभी-कभी मनुष्य विचलित होता देखा जाता है किन्तु प्राप्त होता है महाशक्ति द्वारा जहाँ दुर्बलता का स्थान नहीं।

श्वास, प्रश्वास में अहर्निश बजनेवाले साज को सुनने वाला न ताज की अभिलाषा रखता है और न सांसारिक भोगों का मुहताज बनता है। बनता है कुछ ऐसा बनता है “जो कि बनाये न बने।” प्रत्येक क्षण एक के प्रति प्रीति न हो तो क्षण का क्षय हुआ और विकृत हुआ मन, अब शान्ति कहाँ ? संगीत तो सर्प जैसे भयंकर जीव को भी केवल मोहित ही नहीं करता, नचा डालता है, मनुष्य तो बुद्धि प्रधान प्राणी है। बाहरी संगीत कुछ समय के लिये होता है किन्तु श्वास, प्रश्वास का साज बजता ही रहता है।

साजकी आवाज बे आवाज होते हुए भी प्राणों को वह मधुर मादकता देती है कि जिसे पाकर प्राण धन्य, प्राणी धन्य। कल्पना है उनके लिये जिनके प्राण कलपते रहते हैं सुख, शान्ति के लिये। एक बार साज की आवाज का अनुभव हुआ कि जीवन संगीतमय हो जाता है सदा के लिये। संगीत केवल संगीत ही नहीं रहता, संग हो जाता है प्राण प्रदाता का। संग सत्संग बन जाता है, सत्य के साथ संग हुआ कि सत्संग प्रारम्भ। सत्य सदा रहता है किन्तु जब तक अनुभूति न हो मानव उससे अनजान ही रहता है। रहता है उसी की दुनिया में किन्तु अनजान। अनजान से यदि होती जान पहचान तो जीवन कुछ और ही होता तथा वह उस दुनिया के गोरखधन्धे की ओर ध्यान ही नहीं देता। देता किसी ऐसे के लिये प्राण जो उसे विनाशी से अविनाशी ही बना देता तभी न मानव से केवल महामानव ही नहीं बनता प्राणी प्रदाता बन जाता है अन्य प्राणियों के लिये।

अनहद और साज में अन्तर है। अनहद योगाभ्यास के द्वारा श्रवण की विशेष क्रिया है जब कि साज स्वाभाविक है, सहजभाव है। श्रवण, मनन, निदिध्यासन ज्ञान मार्ग का सोपान है। भाव का सोपान नहीं, भूमिका नहीं, चिन्तन द्वारा प्राप्त नहीं, वह तो स्वाभाविक अवस्था है जिसे प्राप्त नहीं करना पड़ता स्वतः प्रेमानन्द का झरना बह निकलता है। तुलना अनहद तथा साज की नहीं यह तो संकेत मात्र है। एक में अभ्यास (अनहद में) और दूसरे में अभ्यास कैसा स्वतः आनन्द वर्षण होने लगता है। यह भी कथनमात्र ही है, अनुभव ही अवस्था का निरूपण करता है। अभ्यास से यदि प्रेम भाव का जागरण सम्भव हो तो वह स्वाभाविक प्रेम नहीं। प्रेम में भी यदि अभ्यास का स्थान है तब तो माता को किसी पाठशाला में प्रेम के पाठ के अध्ययन की आवश्यकता होगी। कैसी अटपटी बातें हैं।

जिन लोगों ने ध्यान धारण में जीवन व्यतीत किया उन्होंने अभ्यास को प्रधानता दी किन्तु यह मार्ग सबके लिये सरल नहीं था अतः मानसिक शान्ति के लिये भिन्न-भिन्न पथ दर्शाये गये। अग्नि का प्रयोग आज जितना सरल है प्राचीनकाल में पत्थरों की रगड़ से यह कार्य किया जाता था किन्तु दूसरी ओर भाव भक्ति की अग्नि पर आज जितनी राख पड़ी हुई है प्राचीन काल में ऐसा न था। बात अभ्यास की है - शरणागति तथा प्रभु प्रेम के लिये अभ्यास की आवश्यकता, यह स्वभाविक नहीं, कृत्रिम अवलम्ब है। हिंसक जीव भी अपनी संतति को प्यार करता है चाहे हम उसे ज्ञान की दृष्टि से मोह क्यों न कहें। प्यार प्राणी को वरदान के रूप में प्राप्त हुआ है यदि यह भाव प्राणी को न मिलता तो प्राणी की हिंसक वृत्ति और भी प्रबल होती।

आज भी हिंसक वृत्ति को शान्त करने के लिये शांति के प्रस्ताव एक देश दूसरे देश के सम्मुख रखता है किन्तु यह तो प्रवंचना मात्र है। जहाँ हृदय शुद्ध नहीं वहाँ ये प्रस्ताव निरा-धोखा है। धोखा ही बेचैनी का कारण है। हृदय की निर्मलता का प्रभाव यद्यपि तत्क्षण कार्य करता हुआ दिखलाई नहीं देता किन्तु अच्छे विचार निरर्थक नहीं हुआ करते इनका असर जब होता है तो कुछ समय के लिये दुनिया के लोग सुख की श्वास ले पाते हैं। जहाँ गन्दगी अधिक होती है गंदे विचारों की वहाँ यह सुख या शांति अधिक समय तक नहीं रह पाती। यही क्रम तो चला आ रहा है चारों युगों में। शांति की कामना करने वाला व्यक्ति हताश नहीं होता, चेष्टा होती आई है और होती रहेगी जब तक कि सृष्टि प्रलय में लय नहीं हो जाती। जाती है दुनिया अनन्त की गोद में और पुनः नवीन साज बाज के साथ आती है किन्तु जिस साज की चर्चा प्रारम्भ में की गई उस पर ध्यान न दिया



गया तो असंख्य बार सृष्टि का निर्माण कोई अर्थ नहीं रखता। निर्माण निरर्थक नहीं किन्तु जिनके लिये यह रम्य उद्यान सजाया गया उन्हीं की अज्ञानता ने अनेक बार इसे (निर्माण को) निरर्थक सिद्ध करने की चेष्टा की तथा वह क्रम आज भी यथावत् चल रहा है।

बीच-बीच में कुछ ऐसे भी सिद्ध साधक आते हैं। जो इस निर्माण की अपनी-अपनी दृष्टि के अनुसार कटु तथा मिष्ट आलोचना करते हैं और चले जाते हैं। सृष्टि की निन्दा तो अनेक धर्म प्रवर्तकों ने भी की। क्यों की, यह प्रश्न हो सकता है। उन प्रवर्तकों की कुछ सुधार करने की इच्छा थी अतः उन्होंने भी पुरानी परिपाटी का ही सहारा लिया और वह परिपाटी थी मनुष्यों की निन्दा, सृष्टि की निन्दा। भ्रष्ट विचार रखने वाला प्राणी न स्वयं सुख से रहता है और न अन्य मनुष्यों को ही सुख से रहने देता है अतः मनुष्य तो अपने अनुचित कार्यों के कारण निन्दा का पात्र बन जाता है किन्तु सृष्टि की निन्दा किसी मात्रा में भी उचित नहीं। घर गन्दा नहीं, रहने वाला यदि गन्दा है, विचारों से अंधा है तो घर की निन्दा क्यों की जाय ? आक्षेप उन प्रवर्तकों पर नहीं, उस परम्परा पर है जिसने इस स्वर्ग तुल्य सृष्टि की निन्दा की ही प्रेरणा दी, प्रशंसा की नहीं। दृष्टि में दोष है कि सृष्टि में इसे समझने के लिये मनुष्य कुछ समय देता तो सम्भव है उसे ऐसी दृष्टि प्राप्त होती कि निन्दा स्तुति में बदल जाती तथा जीवन कुछ और ही होता।

तेरा साज अनोखा, तेरा राज अनोखा, तेरी सृष्टि तथा तेरा प्राणी भी अनोखा। अन्न खाता हुआ प्राणी भी गम खाना नहीं चाहता, गम में ही प्राण गँवाता और जब तक जीवित रहता है निन्दा करता रहता है सृष्टि की, सृष्टि कर्ता की, अपनी दृष्टि की नहीं जिसने उसे चैन से रहने न दिया,

बेचैन बनाया। सोता था तो स्वप्न देखता था इधर-उधर के उस अवस्था में भी चैन नहीं। सुनता यदि संतों के बैन (वाणी) तो जिन्दगी में गंदगी न होती और बन्दगी में चार दिन बीतते जो उसने परवरदिगार से माँगे थे। “इल्तजा तथा इन्तजार” का मजा कुछ और ही होता, “आँख खुले तभी प्रभात” आज भी तेरा साज सुन सके श्वास, प्रश्वास में तथा राज (रहस्य) समझ सके सृष्टि का दृष्टि का तो कहना क्या और सुनना क्या, मजे में कटे जिन्दगी और प्रभु के वरदान का भी महत्त्व समझे।

साज की प्रशंसा भी की और श्वास, प्रश्वास में बज रहा है यह भी संकेत किया। अनहद और साज का तारतम्य भी लिखा गया किन्तु जब तक अनुभव न हो साज का, लोग कल्पना कह शांत न होंगे कुछ आलोचना भी करेंगे। करें आलोचना किन्तु आलोचना करने के पूर्व यदि साज की बे आवाज की ओर ध्यान देने का कष्ट उठायें तो आलोचना का शायद रूप बदल सकता है। रूप ही नहीं, हृदय भी बदल सकता है तथा दृष्टि भी।

नवीन क्या है इस दुनिया में यह कहना कठिन है। रूपान्तर को ही यदि नवीन कहा जाये तो कहने वाला व्यक्ति कुछ अंशों में उचित बात ही कहता है क्योंकि उसने ऐसी बात पहले सुनी नहीं, देखी नहीं, पढ़ी नहीं अतः उसके लिये अवश्य ही नवीन है। सभी बातें यदि मनुष्य समझ पाता तो उसका जीवन नीरस होता या सरस कहना कठिन है। कुछ स्पष्ट है और कुछ छिपी हुई है। छिपी हुई भावना तथा वस्तु को वह प्रत्यक्ष करने में लगा है किन्तु यह कार्य भी सभी मनुष्य नहीं कर पाते। जो कुछ रस पाते हैं इन बातों में, वही लगे रहते हैं धुन में और यदि धुन दृढ़ हुई, तो कुछ रहस्य

को रसमय बनाकर ही इस धरा-धाम से प्रस्थान करते हैं क्योंकि उनका स्थान उसके हृदय में है जो आज भी अनेक के लिये अनजान भगवान है।

साज जब बे आवाज है वहाँ व्यक्ति कैसे माने कि साज है ? मान्यता, बुद्धि और मन का विषय है तथा इनमें अनेक बार एकता का अभाव देखा जाता है। इस अभाव को देखने वाले की जानकारी सब को नहीं वहाँ साज है तथा प्रत्येक क्षण बे आवाज बजता रहता है इसे स्वीकार करना तो और भी दुष्कर है। श्वास चल रहा है, प्रश्वास भी अपना कार्य कर रहा है यहाँ तक की जानकारी सभी को है क्योंकि यह क्रम यदि न रहे तो प्राणी जीवित नहीं रह सकता किन्तु यह जानकारी तो साधारण जानकारी है। बे आवाज साज का अनुभव तो सरल कार्य नहीं। प्रथमतः इसे महत्त्व वह व्यक्ति क्यों देगा जिसे अनेक झंझटों का सामना करना पड़ता है जीविका उपार्जन के लिये।

सभी व्यक्तियों का कार्य एक सा नहीं होता। कुछ व्यक्ति ऐसे भी आते हैं जिसे व्यक्त करना होता है अव्यक्त को। अव्यक्त की शक्ति का कुछ अंश स्थूल वस्तुओं में देखने को मिलता है मनुष्य चकित हो जाता है। जब आवाज साज तो स्थूल रूप धारण नहीं करता ऐसी अवस्था में आश्चर्य बना रहना स्वाभाविक है। मनुष्य ऐसे ही अन्वेषणों में लगा रहता है जो उसे अर्थ या प्रसिद्धि प्राप्त करवाने में सहायक हों। परमार्थ की ओर ध्यान देने वाले भी समय-समय पर आते हैं - आते हैं अति अल्प। ऐसे व्यक्ति साधाना के द्वारा कुछ अलौकिक अनुभवों की चर्चा कर जाते हैं। इन अनुभवों से लाभ उठाने वाले व्यक्ति भी अति अल्प हैं। व्यक्ति की पूजा में

ही लगे रहते हैं उस अवस्था में आने का न तो प्रयास ही करते हैं और न उनके अनुभव से लाभ ही उठा पाते हैं। जहाँ प्रयास नहीं वहाँ लाभ कहाँ ?

बे आवाज साज की ओर ध्यान देना तो दूर इसे मान्यता देने वाले भी शायद ही इस धराधाम पर दृष्टिगोचर हो। हो या न हो, साज बज रहा है बे आवाज बज रहा है कोई इसे माने या न माने। और राज तो उस का है इसे भी कोई माने या न माने। बुद्धि बल पर किसी ने मान भी लिया तो पूर्ण आनन्द तो वह व्यक्ति पा न सकेगा जब तक कि यह भावना उसके प्राणों में घर न कर ले। आज मनुष्य को प्राणों की परवाह उतनी नहीं जितनी कि उसे शारीरिक सुख भोग की है। शरीर की गति प्राणों पर आधारित है। जब प्राणों में प्रसन्नता का आभास नहीं तो पृथ्वी पर आवास, वस्तु प्राप्त करने का निरन्तर अभ्यास क्या काम आया ?

श्वास चल रहा है, अतः प्राण हैं किन्तु प्राण कहाँ हैं और किस प्रकार ये सम्पूर्ण शरीर को संचालित कर रहे हैं इसका बोध भी अति अल्प को ही होगा। वैद्य आयेंगे और कहेंगे यदि हम नहीं जानते तो रोग की दवा देकर रोगी को निरोग कैसे करते हैं। विज्ञानी आयेंगे और कहेंगे - क्रिया और प्रतिक्रिया पर प्राणी के प्राण अवलम्बित हैं। ठीक है जिसकी जहाँ तक जानकारी है वह वहाँ तक की बात कहेगा ही किन्तु स्थूल प्रकृति का पुजारी, सूक्ष्म प्रकृति की गतिविधि को क्या जाने ? जहाँ स्थूल का ही राज, वहाँ तेरे राज की महिमा को क्या जाने और क्यों माने ? मानने में अहंकार को श्री चरणों पर अर्पित करना पड़ता है। अहंकार तो इन प्राणियों का मूलधन है यदि ये इसे खो बैठें तो इनके पास रहेगा ही क्या ? श्री (लक्ष्मी, वह भी स्थूल) को प्राप्त करने में लगे हैं ये भोले प्राणी। श्री (प्रभु) चरणों को पाने

के लिये तो अनेक जन्मों की आकुलता, व्याकुलता आवश्यक है। भोला प्राणी क्या कभी यथार्थ रूप से जान पायेगा कि तेरा ही राज सर्वत्र है और तू ही श्वास प्रश्वास में वह साज बजा रहा है जो बे आवाज है ?

प्रभो ! दया दृष्टि कर इन भोले प्राणियों पर कि ये तेरे साज को जाने तथा राज को माने। जानना और मानना यदि मनुष्य की बुद्धि तथा मन पर ही अवलम्बित होता तो शायद कुछ लोग तेरी ओर ध्यान देते किन्तु बात ऐसी नहीं। बजा साज, श्वास प्रश्वास में कि आये जिन्दगी का मजा और दूर हो सजा, कजा। यह तो रजा ही कर सकती है तेरी, अन्य आधार नहीं। इस नहीं को हाँ कहकर स्वीकार कर यही प्राणी की प्रार्थना है।

\*\*\*

## क्यों ?

‘क्यों’ का उत्तर कौन दे ? क्यों सृष्टि रची, क्यों प्रकृति सजी, क्यों माया, प्रकृति और पुरुष के मध्य में स्थित हुई ? क्यों, ‘क्यों’ का शीर्षक निर्वाचित हुआ ? इस ‘क्यों’ का उत्तर कौन दे ?

चित्त जब चिन्तन में लगा तो ‘क्यों’ का प्रश्न क्यों उपस्थित हुआ ? इस ‘क्यों’ का उत्तर कौन दे ? जिसने प्रश्न किया वही उत्तर देगा। प्रश्नकर्ता ही यदि उत्तर देगा तो उसने प्रश्न क्यों किया ? यही तो मजे की बात है -जिसने सृष्टि की रचना की वही प्रलय का कारण बनता है। जिस अन्न को खाकर मनुष्य जीवित रहता है वही अजीर्ण का रूप धारण कर मृत्यु का कारण बनता है। क्रिया, प्रतिक्रिया क्यों बन जाती है ? सूर्य का प्रकाश क्षीण होता हुआ, रात्रि के आगमन की प्रतीक्षा क्यों करता हुआ रात्रि के चन्द्र को ही क्यों प्रकाश देता है ? स्वयं सन्ध्या के समय अस्त तथा प्रभात की सन्ध्या कालीन उषा में उदय क्यों होता है ? उदय और अस्त, दिवस और रजनी का गठबन्धन क्यों ? प्रत्येक दिन एक ही निश्चित् समय पर क्यों नहीं उदय होता और अस्त तो होगा ही क्योंकि जिसका उदय उसी का अस्त यह प्राकृतिक नियम है।

‘क्यों’, जिज्ञासा का संकेत है। जिज्ञासा ज्ञानवर्द्धन की सहायिका है। सेव भूमि पर ही क्यों गिरी, आकाश की ओर क्यों न चली। इस ‘क्यों’ ने भूमि की गुरुत्वाकर्षण शक्ति का परिचय दिया। तू है कौन और कहाँ से आया है इस प्रश्न ने एक महाज्ञानी को ब्रह्मज्ञान की प्रेरणा दी। मूर्ति में

महाशक्ति है तो इस पर एक चूहा क्यों आरूढ़ होकर फल खा रहा है इस जिज्ञासा ने एक विशिष्ट समाज की स्थापना करवाई।

इस 'क्यों' ने समस्या हल भी की तथा अनेक समस्याओं को जन्म भी दिया। क्यों मन बेचैन, तन बेहाल ? मनुष्य शान्त क्यों नहीं रह पाता ? मनुष्य दुःखी क्यों, सुखी क्यों ? एक ही कार्य एक के लिये लाभप्रद तथा दूसरे के लिये हानिकारक क्यों सिद्ध होता है ? एक गृहत्यागी, वैरागी, दूसरा गृह मोही, विषय अनुरागी एक ही घर में वास करते, एक ही माता-पिता की संतान, फिर एक धनी दूसरा दरिद्र यह अन्तर क्यों ?

इस 'क्यों' का उत्तर अनेक बुद्धिमान ज्ञानियों ने दिया, कुछ को क्षणिक सन्तोष भी हुआ किन्तु कुछ नहीं अधिकांश व्यक्तियों के लिये यह अन्तर आज भी महा असन्तोष का कारण बना हुआ है अथच इस अन्तर को मिटाने के लिये अनेक ध्वंशात्मक कार्य किये जा रहे हैं और कुछ सफलता प्राप्त कर भी मनुष्य सन्तुष्ट क्यों नहीं ? कुछ का प्रश्न है कि एक अति नम्र दूसरा महाअभिमानी क्यों ? एक फूल की तरह आनन्ददायक, दूसरा काँटे की तरह दिल में चुभकर कष्टकारी क्यों ? इस 'क्यों' का उत्तर कौन दे ? मनुष्य तू इस धराधाम पर आया ही क्यों कि आज तेरे लिये इस 'क्यों' का उत्तर देना सरल कार्य नहीं। यदि कुछ काल्पनिक उत्तर दे भी दिया तो क्या सबको सन्तोष होगा ? यदि नहीं, तो उत्तर देना क्या काम आया ?

एक महात्मा ने कहा - "कर्म प्रधान विश्व करि राचा, को कर तर्क बढ़ावै साखा"। क्या इस उत्तर से मनुष्य को सन्तोष मिला ? वह कौन सा

कर्म है जो मनुष्य को सन्तोष तथा शान्ति प्रदान करेगा ? अन्य महायोगी, महाज्ञानी का कथन है कि “मनुष्य तुझे कर्म करने का अधिकार है, फल का नहीं” फल का यदि अधिकार नहीं तो मनुष्य निरर्थक अपनी शक्ति का उपयोग करेगा ही क्यों ? फल प्राप्ति के लिये ही तो मनुष्य कर्म में संलग्न है, फिर यदि प्राप्ति का ही अधिकारी वह नहीं तो वह कर्म ही क्यों करना चाहेगा ? यदि ज्ञानी यह उत्तर दे कि एक क्षण भी कर्महीन नहीं बीतता तब तो समस्या हल हो गई, कर्म तो स्वतः हो ही रहा है फिर मनुष्य कर्म करने की चेष्टा क्यों करे, कर्म तो स्वतः हो ही रहा है। क्या कहेगा कोई ? विचारों की उधेड़-बुन अनोखी है और ‘क्यों’, सर पर सवार है कि मनुष्य क्यों नहीं कर्म करेगा तथा क्यों करेगा, जब कर्म तो हो ही रहा है। मानवीय बुद्धि के द्वारा दिया हुआ उत्तर सम्भव है क्षणिक प्रश्न से विराम प्राप्त करे, किन्तु यह क्यों का प्रश्न ज्यों का त्यों खड़ा है और खड़ा रहेगा।

क्यों कह कर प्रश्न करना तो सरल है, किन्तु उत्तर देना सरल नहीं। वस्तु है या नहीं है, भाव है या नहीं है ? यदि है तो किस अवस्था में है और यह अवस्था स्थाई है या क्षणिक ? इस प्रकार के अनेक प्रश्न इस ‘क्यों’ शब्द के अन्तर्गत आ जाते हैं। आते हैं और जाते हैं फिर भी सन्तोष नहीं दे पाते। मनुष्य कार्य करता हुआ भी अकर्ता है। प्रश्न होगा कैसे या क्यों ? कैसे का उत्तर यदि बुद्धि बल के द्वारा दिया भी गया, तब भी मन को सन्तोष नहीं होता। उत्तरदाता बुद्धि है मन नहीं। मन, बुद्धि के निर्णय को क्यों मानने लगा ? यदि मान भी ले और सन्तुष्ट यदि हो भी जाये तब भी वह सन्तोष अल्पकाल के लिये होगा स्थायी नहीं। कारण स्पष्ट है, वायुलोक के सभी कार्य वायु की गति की तरह एक भाव में नहीं रह पाते।



वायु की गति सदा एक सी नहीं रहती। कभी वह तीव्र रहती है तथा कभी धीमी। विचार भी कभी उग्र रूप धारण करते हैं कभी शान्त। प्रश्न फिर होगा-ऐसा क्यों होता है ? क्यों होता है, इस 'क्यों' का उत्तर कौन दे ? ऐसा ही होता है, इसे सुनकर 'क्यों' क्यों शान्त होने लगा ? शान्त हो या न हो, क्रम तो इसी प्रकार चला आ रहा है। चला आ रहा है, किन्तु क्यों ? 'क्यों' ने ही मनुष्य को इतना परेशान क्यों कर रखा है, इसका उत्तर क्या 'क्यों' दे सकेगा ? 'क्यों' तो प्रश्नकर्ता है, उत्तरदाता नहीं। अब इस उत्तरदाता को भी खोजना होगा। उत्तरदाता हो सकता है 'यों'। 'यों' केवल उत्तर ही नहीं देगा, करके दिखला देगा।

'यों' क्यों की तरह संयुक्त अक्षर नहीं। 'क्यों' में 'क' आधा है अर्थात् अधूरा है पूर्ण नहीं। अधूरा ज्ञान भयानक होता है। अधूरे शब्द या वाक्य में सदा शंका बनी रहती है और यह शंका ही बार-बार प्रश्न के रूप में आती है। शंका का समाधान करना सरल कार्य नहीं। समाधानकर्ता के भी प्रथम शंका थी, उसने भी किसी का सहारा लिया होगा तथा बुद्धि बल के द्वारा ही पराजित होकर स्वीकार किया होगा कि मेरी शंका निर्मूल थी। बात यहीं समाप्त नहीं हो जाती। यदि प्रश्नकर्ता भी तीव्र बुद्धिवाला हुआ तो समाधानकर्ता प्रश्नकर्ता को सन्तोष देने में असफल ही नहीं रहेगा निर्मूल शंका पुनः समूल उपस्थित हो जायेगी तथा 'क्यों' का चक्र पुनः अपना कार्य करता हुआ दिखलाई देगा। मैं क्यों न प्रश्नकर्ता को सन्तोष दे सका। सीमित बुद्धि असीम 'क्यों' को क्या कभी सन्तुष्ट कर सकेगी ? प्रश्नकर्ता अपनी बुद्धि के द्वारा ही मन को सन्तोष दे सकेगा। यदि ऐसा नहीं हुआ तो मन बुद्धि को शान्त न बैठने देगा। उसे उस व्यक्ति के समीप जाने को बाध्य करेगा, जिसे बुद्धि अपने से अधिक बुद्धिमान समझती हो।

देखा 'क्यों' का खेल, जिस व्यक्ति के पीछे पड़ा उसे बेचैन करके ही छोड़ा। छोड़ा नहीं, ऐसी भावना बैठा दी कि वह व्यक्ति शान्त नहीं बैठ सकता, जब तक कि 'क्यों' का समुचित समाधान न हो, किन्तु 'यों' ही क्यों को पराजित करता हुआ देखा गया। यों ने केवल उत्तर ही नहीं दिया, बल्कि उसे करके दिखला दिया कि इस प्रकार तुम करो तो तुम्हारी यह जिज्ञासा शान्त हो सकती है। होगी ही यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि प्रश्नकर्तृ है बुद्धि और उसे स्वीकार करनेवाला है मन। मन यदि न माने तो पुनः बुद्धि और मन में कर्ष बढ़ेगा, हर्ष न होगा। हर्ष तो तब न होगा जब मन उसे स्वीकार ही न करे, बुद्धि के निर्णय के अनुसार बतलाये हुए मार्ग का अवलम्बन करे तथा मनन के पश्चात् चिन्तन भी करे। भावना या विचार को कार्य रूप में परिवर्तित करने से ही सन्तोष नहीं होता, उसकी मान्यता को भी प्रधानता देनी पड़ती है और यह कार्य सरल नहीं।

बुद्धि के एक निर्णय को स्वीकार करने वाला मन, बुद्धि के सभी निर्णय को स्वीकार कर लेगा, ऐसी बात नहीं। 'क्यों' पुनः सिर उठायेगा तथा अन्य समस्या बुद्धि के सम्मुख रखेगा। बुद्धि पुनः कमर कस कर तैयार होगी समस्या को हल करने के लिये तथा पूर्ववत् प्रश्नों की झड़ी लगेगी तथा 'क्यों' की प्रश्नों की लड़ी खड़ी मुस्कराती रहेगी।

प्रश्न अल्पकाल के लिये यदि हल भी हो गया तो क्या 'क्यों' शान्त हो जायेगा ? नहीं, नहीं, कदापि नहीं। यदि समस्या हल ही हो जाती तो यह युग परिवर्तन का कार्य समाप्त ही न हो जाता। ऐसा हुआ कहाँ ? मानसिक शान्ति के लिये मनुष्य ने तप किया, जप किया, यज्ञ किया, हवन किया, पुस्तकें लिखीं, पुस्तकें पढ़ीं भक्ति को प्रधानता देता हुआ अपने इष्ट के सम्मुख नृत्य किया, कीर्तन किया, माला का आश्रय लिया, चढ़ाई भी,

फेरी भी, उपवास किया, तीर्थाटन किया, दान दिया, दान लिया किन्तु वाह रे मनुष्य का मन, सन्तोष न लिया।

क्षणिक सन्तोष का प्रभाव भी क्षणिक ही होता है। यदि सन्तोष ही लेता तो ये युग परिवर्तन की आवश्यकता ही क्यों होती ? आ गया न 'क्यों'? गया ही कहाँ था, वह तो मनुष्य की बुद्धि का खेल देख रहा था। बुद्धि, मन ने संयुक्त हो 'क्यों' को शान्त करना चाहा, किन्तु 'क्यों' क्या कभी शान्त हो सकेगा ? जिस दिन 'क्यों' शान्त हो जायेगा, उस दिन मनुष्य की जिज्ञासा का भी अन्त हो जायेगा। काल की अनवरत गति कभी शान्त हुई ? अनेक मानव, दानव आये, समय की तीव्र गति के सम्मुख किसी की भी न चली। अनन्तकाल के प्रवाह में प्रवाहित होते हुए आये तथा उसी प्रवाह में लीन हो गये। कुछ प्रभा फैला गये अपने विचारों की और कुछ यों ही आये और यों ही गये। सब आये, सब गये किन्तु 'क्यों' का कार्य समाप्त न हुआ।

'क्यों' का प्रश्न आज भी ज्यों का त्यों है, क्यों आये और क्यों गये या कहाँ गये ? यदि यह कहा जाये कि अनन्त से आये और अनन्त में विलीन हो गये। 'क्यों' प्रश्न कर सकता है कि क्या अनन्त बुद्धिहीन है जो सृजन करता है और विसर्जन भी करता है ? इसका उत्तर यदि यों दिया जाय कि अनन्त एक महाकुम्भकार है जो खिलौने बनाता, खिलौनों को प्राण देता तथा खिलौना जगत के व्यवहार में आकर प्राण गँवा बैठता और कुम्भकार को दोषी ठहराता। 'क्यों' इस उत्तर से सन्तुष्ट होने वाला नहीं। क्यों अनन्त ने अविनाशी होते हुये भी विनाशी खिलौने की सृष्टि की ? प्रश्न उचित है अविनाशी यदि विनाशी की सृष्टि करे तो अविनाशी का कार्य प्रशंसनीय तो नहीं कहा जा सकता। अविनाशी का उत्तर हो सकता है कि

विनाशी का कलेवर ही नाशवान है किन्तु मेरे दिये प्राण जिसे आत्मा कहा जाता है, उसका नाश नहीं होता। मुझ पर मिथ्या दोषारोपण निरर्थक है।

खिलौने की मिट्टी, मिट्टी में मिल जायगी किन्तु वह महाशक्ति (आत्मा) का नाश कोई भी नहीं कर सकता, स्वयं मैं भी नहीं। जिन तत्वों से मैंने प्राणी की सृष्टि की है वे तत्व, तत्वों में मिल जाते हैं और नाश नहीं होते, रूपान्तरित होते हैं जिन्हें साधारण मानव समझ नहीं पाते। 'क्यों' शान्त होने वाला नहीं, यदि यही बात है तो खिलौना चिल्लाता विलाप करता हुआ क्यों जाता है तथा खिलौने के सम्बन्धी अन्य खिलौने क्यों दुःखित होते हैं ? अनन्त का उत्तर हो सकता है जब एक अबोध बालक का खिलौना टूट जाता है तो वह रोयेगा ही। क्यों ? ऐसा अबोध प्राणी बनाया जो हँसता है कम और रोता है अधिक यह प्रश्न हो सकता है 'क्यों' का।

अनन्त, अनन्त है तो 'क्यों' के प्रश्न भी अनन्त हैं। अनन्त एक और 'क्यों' के प्रश्न अनेक हैं। एक अनन्त अनेक अनन्त (प्रश्न) का उत्तर कहाँ तक दे सकेगा। अनन्त अमर, 'क्यों' के अक्षर भी अक्षर हैं। उस एक अनन्त से अनेक अनन्त (बहुवचन) की रचना हुई। 'क्यों' उत्तर पाकर भी शान्त नहीं। अनन्त ने तब यों शब्द की रचना की होगी, अन्यथा 'क्यों' क्यों शान्त होने लगा ?

प्रश्न में कुछ सना है। हो सकती है जिज्ञासा या जानकारी का अभिमान। किन्तु 'क्यों' को किसी का अभिमान पसन्द नहीं। 'क्यों' प्रश्न करेगा मनुष्य तो नाशवान फिर अभिमान क्यों करता है ? मनुष्य सम्भव उत्तर दे - नाशवान हूँ तभी तो अभिमान करता हूँ। स्वार्थ का बन्दा हूँ, जगत के अन्य प्राणियों की मैं क्यों परवाह करने लगा। जिनसे मेरा स्वार्थ

सिद्ध होगा उनकी जूतियाँ उठाऊँगा किन्तु अन्य पर तो अपना रोब जमाऊँगा।

‘क्यों’ वायु के पुतले बकवादी, अभिमानी, स्वार्थी, निरर्थक विचार में संलग्न, तीनों काल से अनभिज्ञ, तीनों लोक का गुलाम मनुष्य की बातों पर क्यों ध्यान देने लगा। वायु का पुतला प्रलाप न करेगा तो क्या करेगा ? उपदेशक बन बैठा यह प्रलापी जिसे यह भी मालूम नहीं कि सृष्टि की रचना क्यों हुई ? क्या उसके प्रलाप के लिये। ‘क्यों’ मनुष्य की दुर्बलता का जानकार है तथा उसके एक प्रश्न का भी मनुष्य समुचित उत्तर नहीं दे पाता ऐसे अज्ञानी, अभिमानी की बातें केवल गाल बजाने वाली ही सिद्ध हुई हैं यह ‘क्यों’ अच्छी प्रकार जानता है।

‘क्यों’ पुनः प्रश्न करने के लिये प्रस्तुत हुआ अनन्त से, भूमि कहीं हरी-भरी और कहीं रुखी-सूखी क्यों ? पहाड़ क्यों, समतल भूमि क्यों, सुगन्ध क्यों, दुर्गन्ध क्यों, मनुष्य भला क्यों, बुरा क्यों, सुखी क्यों, दुःखी क्यों ? ‘क्यों’ के अनेक प्रश्नों पर अनन्त मुस्करा रहा था। उत्तर पाकर भी क्या ‘क्यों’ शान्त हो सकेगा ? अनन्त का उत्तर था यदि एक ही भाव इस सृष्टि में रहता तो इसका आकर्षण ही न रहता। भिन्नता दृष्टि में है, सृष्टि में तो दिखलाई देती है किन्तु है नहीं। यह एक स्पष्ट उक्ति है यदि तुम (क्यों) समझ सको तो तुम्हारे सभी प्रश्नों का समाधान आसानी से हो सकता है। त्रिगुणों का समिश्रित कार्य भिन्नता का कारण बन जाता है। जब एक बार भाव बन जाता है तो फिर जाता नहीं, बना ही रहता है। सृष्टि में आने वाला व्यक्ति अपने पूर्वजों की दृष्टि से ही सृष्टि को देखता है तथा यदि जिज्ञासु हुआ तो ‘क्यों’ तुम्हारे ही चक्कर में फँस जाता है नहीं तो यों ही आता है और यों ही चला जाता है।

अनन्त के उत्तर से यदि 'क्यों' सन्तुष्ट हो जाता तो 'क्यों' का अस्तित्व ही न रहता अतः उसने पुनः प्रश्न किया यह आवागमन ही क्यों होता है जब प्राणी यों ही आता है और यों ही चला जाता है। कार्य का कुछ उद्देश्य हुआ करता है यदि निरुद्देश्य ही इस सृष्टि की रचना हुई है तो हे अनन्त ! क्या तुम्हारे सभी कार्य निरर्थक सिद्ध ही न होंगे। तुमने सृष्टि की रचना ही क्यों की ? सर्वज्ञ की भयंकर भूल से प्राणी क्यों कष्ट पाये ? क्यों यों ही आये और यों ही जाये। प्रत्येक क्षण परिवर्तन का चक्र चला कर क्या तुम्हारे उद्देश्य की पूर्ति हुई है या एक अबोध बालक की तरह केवल अपने मनोरंजन के लिये तुमने असंख्य प्राणियों को कष्ट दे रखा है यदि ऐसा है तब तो तुम दयालु कहाँ, महाक्रूर हो और ये तुम्हारे बनाये हुए प्राणी भी महामूर्ख हैं जो तुम्हें दयालु कहते हैं। तुमने इन महाअज्ञानियों की सृष्टि ही क्यों की ? अनन्त ने मुस्काराना ही ठीक समझा 'क्यों' कि तर्क बुद्धि ही ऐसी थी ।

अनन्त को सर्वज्ञ भी कहता है, महाक्रूर भी, प्राणियों को महामूर्ख भी कहता है और सृष्टि को निरर्थक भी। अनन्त का उत्तर था उद्देश्यहीन कोई भी कार्य नहीं होता किन्तु जो उद्देश्य को न समझे तो कार्य निरर्थक नहीं होता उसका परिणाम अवश्यसम्भावी है। प्राणी मनोरंजन के हेतु निर्मित नहीं हुए उनके लिये प्रशस्त आनन्द पथ है यदि प्राणी उस पथ पर अनुसरण करें तो वे भी मेरी ही तरह इस सृष्टि का खेल देख प्रसन्न हो सकते हैं किन्तु खेल को ही जेल समझ प्रत्येक क्षण कष्ट अनुभव करें तो दोष न मेरा है और न सृष्टि का। मुझे दयालु कहें प्राणी या क्रूर समझें तुम्हारी तरह यह अधिकार उनको है क्योंकि उन्हें बुद्धि दी गई है यदि वे उसका सदुपयोग न करें तो कष्ट पाना स्वाभाविक है।

तुम शान्त रहने वाले नहीं 'क्यों', किन्तु तुम्हारा प्रयोग भी यदि जिज्ञासा के लिये किया जाये तो उनके लिये सृष्टि आनन्द प्रदाता माता दिखलाई देगी जो स्वयं कष्ट उठाते हुए अपनी सन्तति को सुख देकर ही सुख पाती है। कुपुत्र तो माता पिता की निन्दा करेगा ही इस में आश्चर्य क्या। सृष्टि का निर्माण अनेक दृष्टि से किया गया है। प्राणी की प्रत्येक आवश्यकता की पूति का भण्डार है यह सृष्टि। निरर्थक आवश्यकताओं की वृद्धि करे प्राणी, उनकी प्राप्ति में सुख माने तथा अभाव में दुःख तो यह दोष सृष्टि का या उनका ? अपना दोष स्वीकार करने वाला तथा भविष्य में अपनी गलतियों पर ध्यान देने वाला प्राणी, सुख ही पायेगा दुःख नहीं, किन्तु कर्मभूमि में आकर अकर्मण्य बना बैठा रहने वाला प्राणी तो स्वयं ही दुःख पाता है तथा तुम्हारी तरह मुझे क्रूर कहेगा ही। युद्धभूमि का सैनिक यदि हाथ पर हाथ धर कर बैठ जाये तो मृत्यु निश्चित ही है सेनापति को दोषी ठहराना तो उचित नहीं।

सृष्टि दुःख का भण्डार नहीं, रत्नगर्भा सृष्टि रची गई है। अनेक रंग-बिरंगे पुष्पों से इसे सुसज्जित किया गया है। नदी, नाले, पहाड़, झरने इसकी शोभा को द्विगुण करते हैं, अनेक बातें कही गई है पिष्टपेषण के लिये नहीं किन्तु तुमने (क्यों ने) इसे कारागार सम समझ निरर्थक कहा इसीलिये ये बातें कही गईं। कर्ता यदि अपने निर्माण की स्वयं प्रशंसा करे तो कर्ता को शोभा नहीं देता किन्तु तुम जैसे को समझाना भी आवश्यक है। अपने हृदय को मैंने न्योछावर किया है प्राणी की सुख-सुविधा के लिये, सृष्टि के रूप में। यदि मेरे हृदय की कीमत प्राणी न करे यह उसकी इच्छा पर निर्भर करता है।

सृष्टि की रचना निरर्थक नहीं। रचना है प्राणी को सुअवसर के रूप में। प्राणी की सद्भावना एक दिन मुझसा ही बना देगी प्राणी को। क्रूर परीक्षक समझा जाता है जहाँ परीक्षार्थी प्रश्नों का उत्तर समुचित नहीं दे पाता। विश्वास नहीं प्राणी को न अपने पर और न मुझ अनन्त पर। विश्व में रहता हुआ प्राणी यदि विश्वास खो बैठे, आशा छोड़ बैठे तो यह विश्व उस प्राणी को विषवत् प्रतीत होगा ही। कभी कहता है विधाता की सृष्टि ही ऐसी है जहाँ प्राणी कष्ट भोगने के लिये ही आया है, कभी कहता है - माया की रचना क्यों की, कभी कहता है पाप-पुण्य की कथा ही प्राणी को शान्त नहीं रहने देती, कभी कहता है अच्छा होता मृत्यु शीघ्र आ जाती। ये बातें क्या प्राणी को शोभा देती है जो मेरा प्राण है ? अपने प्राणों की प्रसन्नता के लिये मैंने (अनन्त ने) प्राणी का सृजन किया है, कष्ट देने के लिये नहीं।

अनन्त की बातें सुनता-सुनता 'क्यों' घबड़ा उठा और कहने लगा यदि ऐसी बात है तो ऐसे कृतघ्नी प्राणियों की सृष्टि क्यों की ? अनन्त प्रसन्न था क्यों कि 'क्यों' उसके हार्दिक भाव समझ कर कुछ अशों में शान्त हुआ। अनन्त कहने लगा कृतघ्नी पर भी दया रखना यही तो दयालु का कर्त्तव्य है। कर्त्तव्य शब्द का प्रयोग तो मैंने यों ही किया, दया किये बिना मैं रह नहीं सकता। दया अपने बच्चों पर माँ सदा करती आई। वह अपने बच्चे का अमंगल देख नहीं सकती। यथा शक्ति उसे सुख देना ही उसका स्वभाव है। मैं, जगत माता मेरे यहाँ शक्ति, प्रेम का अभाव नहीं। "जो ध्यावे सो पावे" यह बात नहीं "जो न ध्यावे सो भी पावे" यही करता आया हूँ और ऐसा ही करता रहूँगा, प्रलय के अन्तिम क्षण तक।

खिलौने पुराने हो गये, सृष्टि इन खिलौनों से तंग आ गई होती है तभी मैं पुनः नवीन सृष्टि का निर्माण करता हूँ लोग इसे प्रलय कहते हैं।



यथार्थता से दूर रहने वाला व्यक्ति किसी न किसी पर दोषारोपण करेगा ही। 'क्यों' चुप रहने वाला न था कहने लगा - यह यथार्थता क्या बला है ? अनन्त ने कहा - यथार्थता बला नहीं कला है जीवन की। जीवन अवधि काल है प्राणी के लिये इस सृष्टि में रहने का। यदि प्राणी को इसका भी ज्ञान दिया जाता कि इतनी अवधि तक वह इस सृष्टि पर वास कर सकेगा तो वह किसी भी कार्य में दिलचस्पी न लेता हुआ चिन्ता में ही समय बिताता अतः उसे अवधि से अनजान ही रखा गया। 'क्यों' ने कहा - ऐसा क्यों किया गया, यदि उसे निश्चित अवधि जीवन की बतला दी जाती तो सम्भव है वह सतर्कता से अधिक काम करता यह तो तुमने अनन्त अच्छा काम नहीं किया।

'क्यों' केवल प्रश्न ही करना जानता था, यथार्थता से अनभिज्ञ था। सभी बातों की जानकारी साधारण प्राणी क्या महा चिन्तकों को भी नहीं होती। सर्वज्ञ तो केवल अनन्त है अन्य प्राणी तो अन्दाज के चक्कर में ही लगे रहते हैं। कुछ ठीक कुछ (अन्दाज) धोखे का कारण बन जाते हैं। 'क्यों' अब थक चला था प्रश्नोत्तर से किन्तु पूर्ण सन्तोष उसे अब भी न था। 'क्यों' ज्यों का त्यों बना रहेगा प्रलय की अन्तिम घड़ियों तक जब तक कि वह 'यों' से नहीं मिलता। 'यों' ने अनेक बार क्यों को पराजित किया किन्तु फिर भी पराजय स्वीकार नहीं करता। प्रश्न करना ही उसका जीवन रहा।

## मन और तन

तन पर मन सवार। तन पर केवल सवार ही नहीं वार पर वार करता है, सवार है अतः सौ बार करके भी शान्त नहीं होता। तन में रक्त प्रवाहित है मन में विचार। रक्त की गति है, विचार अनन्त गति सम्पन्न तथा तन को कर देता है विपन्न किन्तु फिर भी तन-मन का अटूट सम्बन्ध है।

मन तन की रक्षा के लिये अनेक उपाय सोचता है सवार की तरह, क्योंकि जिससे काम लेना उसके लिये चारा जुटाना भी आवश्यक है। चारा मिल भी गया, किन्तु आसानी से नहीं। मन की सभी क्रियाओं का प्रभाव तन पर ही पड़ता है और कभी-कभी तो मन की चिन्ता का कुप्रभाव इतना अधिक होता है कि वह रोगग्रस्त हो अकाल में ही संसार से विदा हो जाता है। मन का क्या बिगड़ा उसका तो कोई स्थूल रूप नहीं। अतः वह तन को कष्ट दे अन्य तन ग्रहण करता है। कैसी विडम्बना है दोषी कोई और दण्ड भोगना पड़े किसी को।

मन मरता नहीं, शरीर मरता है। अतः धार्मिक व्यक्तियों ने मन को शमन करने के लिये अनेक मार्ग तथा साधना बताई और बार-बार कहा-इस दुष्ट मन को मारो, यही अनेक उपद्रवों की जड़ है। इस कार्य में भी मन को इतना कष्ट उठाना नहीं पड़ता जितना कि तन को। शीतकाल में ब्राह्म मुहूर्त में स्नान करना धार्मिक कर्म है। इस कर्म में मन को क्या कष्ट उठाना पड़ता है, तन ही कष्ट उठाता आया है। जब किसी कार्य को मन नहीं

करना चाहता तो बुद्धि उसे समझाती है, संस्कार उसे प्रेरणा देते हैं अन्त में या तो मन अस्वीकार कर असमंजस में पड़ जाता है या स्वीकार कर तन को विवश करता है उस कष्ट को उठाने के लिये जिसे वह प्रारम्भ में उठाना नहीं चाहता था। अधिकतर मन की नादानी के कारण तन अति पीड़ित है, फिर भी उसे (तन को) मन की आज्ञा का पालन करना ही पड़ता है जब तक कि वह (तन) बिलकुल असमर्थ न हो जाये।

मन और तन का अति निकट सम्पर्क उस समय तक आनन्ददायक सिद्ध नहीं होता जब तक कि मन में शुद्ध चेतना का वास न हो। प्रश्न हो सकता है कि यह शुद्ध चेतना क्या है ? चेतना न रहे तो मन का प्रभाव तन पर नहीं पड़ सकता। मनोविज्ञानियों ने मन के दो भाग बुद्धि बल से किये। चेतन मन, अवचेतन मन। चेतन मन में बुद्धि का सुझाव रहता है तथा अवचेतन मन में संस्कार ही प्रबल रहते हैं बुद्धि नहीं। चेतन हो या अवचेतन प्रत्येक अवस्था में तन पर ही मन की क्रिया का प्रभाव पड़ता है।

तन की शुद्धि पर कुछ धर्मों में अधिक बल दिया है। तन की शुद्धि त्वचा के लिये उपकारी है किन्तु इस तन की शुद्धि को ही अधिक महत्त्व देना, तन को अधिक कष्ट देना है। मन शुद्धि पर यदि अधिक ध्यान दिया जाये तो तन शुद्धि तो होगी ही तन को अधिक कष्ट भी उठाना न पड़ेगा। तन निरीह, मन सबल। यह सबल मन किसी उच्च विचार को हृदय में विचारों के द्वारा स्थित कर पाता तो इसकी चञ्चलता बहुत अंशों में शान्त रहती, किन्तु ऐसा होता कहाँ है। उच्च विचार मन के निरर्थक विचारों का निरोध करते हैं तथा क्रमशः उन्नत करते हुए उस स्थान पर पहुँचा देते हैं मन को कि वह अब शान्त रहने लगता है।

मन की शांति तन के लिए भी हितकर होती है। तन का अभाव मन, बुद्धि बल के द्वारा कम करता रहता है। तन अन्न चाहता है और मन का अन्न है सात्विक विचार। अन्न दोनों के लिये आवश्यक। यदि तन को अन्न न मिले तो तन निर्बल हो जायेगा तथा अति अभाव में तो तन को इह-लीला ही समाप्त करनी पड़ती है। अन्न के लिये धन की आवश्यकता है। इस धन की प्राप्ति के लिये तन सब प्रकार का कष्ट उठाने को प्रस्तुत रहता है। कष्ट साध्य धन की रक्षा भी चाहता है तन और कभी-कभी इस धन के लिये आहत भी होता है और हत भी। तन रक्षा के लिये धन चाहिये और इस धन की प्राप्ति के लिये मन, बुद्धि का सम्पूर्ण सहयोग। बुद्धि यदि मन को उचित मार्ग न दिखलाये तो मन छटपटा कर रह जायेगा और तन की रक्षा करने में भी सहायक सिद्ध न हो सकेगा।

तन स्वस्थ, मन शांत, बुद्धि प्रेरणा दे धन प्राप्ति के लिये तो जीवन की गति क्रमशः सफलता की ओर अग्रसर होती रहती है अन्यथा जीवन भार हो जाता है। तन, मन, धन के गीत तो सांसारिक लोग गाते रहते हैं किन्तु इनके सदुपयोग की ओर अति अल्प मनुष्य ध्यान देते हैं।

तन के पक्षपाती कहेंगे “तन सबल तो मन सबल” और मनन शील व्यक्ति कहेंगे “मन सबल तो तन सबल।” बातें विवादग्रस्त हो जाती हैं किन्तु यह देखने में आता है कि तन सबल का साथ मन सबल न दे तथा बुद्धि सहायक न हो तो तन की अवस्था तो शोचनीय होती है मन भी कष्ट पाता है। अनेक बलधारी, धनवानों के द्वार पर खड़े नजर आते हैं। धनी व्यक्ति शरीर से मजबूत, ऐसा देखने में कम आता है, मानसिक चिन्ता

उसका स्वास्थ्य हरण कर लेती है। वह बुद्धि तथा धन के बल पर सबल तन वाले व्यक्ति को अपना दास बना कार्य करता है।

मन, तन की वार्त्ता में धन और बुद्धि का प्रवेश क्यों किया गया यह प्रश्न हो सकता है। भगवान के चार हाथ - चार हाथों में शंख, चक्र, गदा, पद्म विराजमान है। प्राणी (मनुष्य) भी चतुर्भुजधारी है - मन, तन, धन बुद्धि। मन ने तन धारण किया, तन की रक्षा के लिये धन आवश्यक और इस धन की प्राप्ति के लिये बुद्धि। शंख बजा, मन कार्य करने को उद्यत हो, चक्र चला, तन कार्य करे, गदा अभिष्ट की प्राप्ति का साधन - तन की रक्षा, अभिष्ट है धन के द्वारा, अब पद्म - यह कार्य तो बुद्धि ही करेगी मन को पद्म की तरह प्रस्फुटित होने की प्रेरणा देकर।

तन स्थूल है एक मंजुषा की तरह जिसमें अनेक सूक्ष्म तत्त्वों का वास है। मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार । ज्ञानी भक्त सृष्टिकर्त्ता का वास भी हृदय में मानते हैं। यों हृदय स्थूल किन्तु जहाँ नारायण का वास है वह हृदय स्थूल नहीं वह तो सूक्ष्माति-सूक्ष्म होता है। स्थूल में सूक्ष्म का वास होता है तथा सूक्ष्म में भी स्थूल का वास होता है। तन की सुन्दरता पर प्राण न्योछावर करने वाले अनेक किन्तु मन की सुन्दरता का ज्ञान तो अति अल्प को ही होता है। “मन मलिन, तन सुन्दर” ऐसे सुन्दर तन का कार्य जन हित के लिये श्रेयस्कर कभी नहीं होता। इस तन की सुन्दरता ने अनेक युद्ध करवाये इतिहास इसका साक्षी है। मन सुन्दर ने सदा शान्ति चाही और संसार को अनेक सुन्दर ग्रन्थ दिये जिनका अध्ययन तथा मनन आज भी बुद्धिमानों को श्रद्धा, भक्ति, विश्वास का पाठ पढ़ाता है।

तन की भूख केवल अन्न ही नहीं है, अनेक विषय वासना भी है। यहाँ मन भी तन का सहायक देखा जाता है। तन की दुर्गति का कारण मन की दुर्बलता तथा तन की भूख है। तन की भूख स्थूल वस्तुओं को पाकर अल्प काल के लिये शान्त हो भी जाती है, किन्तु सूक्ष्म वासना का प्रभाव तन को तथा मन को शान्त नहीं रहने देता। तन अधिक से अधिक आराम चाहता है तथा मन अधिक सुख। यह सुख भी मन इन्द्रियों के द्वारा ही ग्रहण करता है। स्थूल के द्वारा सूक्ष्म सुख भोग करता है, यह बात बुद्धिवाले शीघ्र ही नहीं मानते।

स्थूल वायु के कारण प्राणों में गति है तथा शरीर के अंग प्रत्यंग में कार्य शक्ति। सूक्ष्म ने स्थूल में गति उत्पन्न की, अब स्थूल ने सूक्ष्म को आराम दिया ग्रहण शक्ति के द्वारा। यों सूक्ष्म और स्थूल को एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। यदि सूक्ष्म न रहे तो स्थूल में गति कैसे पैदा होगी और यदि स्थूल न रहे तो सूक्ष्म की शक्ति किसे प्रेरणा देगी ? सूक्ष्म की शक्ति प्रयोग के लिये स्थूल की केवल आवश्यकता ही नहीं, यदि स्थूल न रहे तो सूक्ष्म निरर्थक ही हो जायेगा। अतः मन न रहे तो तन में क्रिया का सञ्चार कैसे होगा तथा तन न रहे तो मन की स्थिति कहाँ ? ये एक दूसरे के पूरक हैं। “सब साधन कर मूल शरीर”। शरीर न रहे, तन न रहे तो साधन कैसे सम्पन्न हो सकेंगे ?

मनुष्य तन की अधिक चिन्ता करता है मन की नहीं। मन दुःखी। क्यों ? उसकी पूछ कहाँ ? यह तो भटकता रहता है, तन त्याग करते-करते मन हैरान किन्तु शान्त नहीं हो पाता। मन अपनी बात कह कर भी शान्त नहीं हो पाता। एक बात समाप्त हुई नहीं कि दूसरी बात ने आ घेरा

और बातों का चक्कर, इच्छाओं का चक्कर इस गति से चला कि मन बेहाल। क्या करे क्या न करे। उधर मन की इच्छाओं को पूर्ण करने में तन थक गया किन्तु बेहाल मन न अपने पर रहम करता है और न तन पर। अटूट सम्बन्ध ने तन की नसें ढीली कर दी किन्तु मन अब भी प्रसन्न नहीं। अजब खेल हैं प्रभु के, प्रभु की प्रकृति के। तन, मन क्या बनाया दोनों को बेहाल कर दिया। एक को घर के रूप में बनाया तथा दूसरे को 'वासी' बनाया, मालिक तो स्वयं है ही (प्रभु)। ऐसा वासी बनाया जो ताजा की इच्छा रखता हुआ भी बासी वासनाओं का उपभोग करता हुआ भी शान्त न हुआ।

आहार, निद्रा, भय मैथुन तो सभी योनियों में थे। मनुष्य जन्म पाकर भी इन चारों के चक्र में ही आबद्ध हो रहा है। मनुष्य का रूप धारण करते ही उसके सामने चार विचार और आये - धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष। मनुष्य धर्म और मोक्ष की प्राप्ति के लिये क्यों परेशान होने लगा, वह तो अर्थ और काम का पुजारी बन बैठा। आश्चर्य है शरीर में रहनेवाले चार - मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार ने भी विरोध न किया कि तुम अर्थ और काम के ही भक्त क्यों बने ? जरा धर्म और मोक्ष की ओर भी ध्यान दिया होता तो मानव तन सार्थक होता तथा हम सबको भी छुट्टी मिलती। प्राणी तेरे साथ हम सदा रहे किन्तु न तूने शांति ली और न हमें शांति से रहने दिया। प्राणी भी कुछ कह सकता था कि तुम चारों में एक अति नटखट है वह है मन और इस नटखट के ही कारण मुझे अनेक तन धारण करने पड़े।

मनुष्य का तन पाकर भी मन प्रसन्न नहीं। यहाँ भी उसका उपद्रव शान्त न हुआ दौड़ता ही चला जाता है कहीं विश्राम लेने का नाम ही नहीं

लेता तथा उसका भी नाम नहीं लेता जिसने इसको बनाया। तब भला कैसे इस नटखट को विश्राम मिले ? नटखट का क्या बिगड़ा, खटता है शरीर थकता है शरीर यह तो 'नट' है जो कलाबाजियाँ खाता, दूसरों को खेल दिखाता, खुश करने की चेष्टा करता कभी-कभी स्वयं भी अपने किये पर प्रसन्न होता। यह प्रसन्नता क्षणिक होती और यह तब दूसरा कार्यक्रम उपस्थित करता - नटी के लिये बेचैन रहता। इसकी नटी भी माया बनी थी, इसे अपने समीप भी नहीं आने देती, दूर ही से इसे ललचाती किन्तु हाथ न आती। लोग उसे माया कहने लगे क्योंकि वह मायाविनी थी इसे खूब छकाती। बुद्धिमानों ने तब इस संसार को नाट्यशाला कहना प्रारम्भ किया किन्तु यह नटखट मन खेल खेलता हुआ भी उपराम न हुआ और न नटा (नाहीं की) कि अब मैं थक गया हूँ अब न खेलूँगा।

थक गया तन, जीर्ण-शीर्ण हो गया तन किन्तु यह मन तो सदा तरुण ही रहा। तरु शरीर रुग्ण हो गया, फिर भी इस तरुण को दया न आई। आये भी क्यों ? यह तो हिन्दु तरुण की तरह गुलछर्रे ही उड़ाता रहा। एक औरत मर गई तो क्या आफत हो गई, दूसरी आयेगी, क्योंकि अभी तो मैं जवान हूँ। एक शरीर यदि नष्ट हो गया तो क्या हुआ ? मुझे तो दूसरा मिलेगा, तीसरा मिलेगा और मिलता ही रहेगा। चिन्ता वह करे जो यह समझे कि यह मनुष्य का शरीर बार-बार नहीं मिलता। मनुष्य के शरीर में ही मुझे कौन सा सुख मिला कि इसके गीत गाऊँ ? किसी साधु-सन्त की बातों में आ जाता तो मेरा नाचना-कूदना न कम हो जाता। मुझे इन साधु-सन्यासियों का राम नहीं चाहिये मैं तो काम चाहता हूँ भोग चाहता हूँ चाहे मुझे उसके लिये एक नहीं अनेक जन्म ग्रहण करने पड़ें, तन धारण करने पड़ें।



तन, मन का हाल देख व्याकुल। यह कैसा सवार मुझ पर बैठा है, जो न खुद शान्त रहता है और न मुझे शान्त रहने देता है। ऐसा नटखट है यह मन कि खटाते-खटाते मुझे (तन को) बेहाल कर दिया, फिर मुझ (तन) पर दया न आई। मन नटखट कहता है क्यों तुझ पर दया करूँ जब कि मैं भगवान की भी दया नहीं चाहता ? होगा किसी के लिये भगवान मेरे लिये तो मैं ही भगवान हूँ। कैसा सुन्दर उत्तर है इस नटखट मन का, जिसके लिये महा ऋषि-मुनियों ने कहा - “मन ही मनुष्य के लिये मोक्ष और बन्धन का कारण” है। नटखट मन कारण जानना नहीं चाहता है यह तो रण चाहता है विचारों का, तन की बुरी हालत ही क्यों न हो जाये। वाह रे नटखट ! कभी शान्त भी होगा या सदा नाचता-नचाता रहेगा दूसरों को या दूसरों के सम्मुख।

वायु में झूल रहा है मन और भूमि पर खड़ा है तन। तन भूमि पर चलता है और मन हवा से बातें करता, हवा से भी द्रुतगति से दौड़ता है तथा शरीर रूपी घोंसले में आ जाता है। पक्षी ने घोंसला बनाया अपनी रक्षा के लिये, वृक्ष पर एक-एक तिनका इकट्ठा कर। मन ने भी संस्कार रूपी तिनके एकत्र किये तन के लिये और रहने लगा तन में। पक्षी ने विश्राम किया घोंसले में तथा प्रभात होते ही निकल पड़ा अपनी क्षुधा की निवृत्ति के लिये, किन्तु पागल मन निवृत्त कहाँ हुआ ? वह तो वृत्तियों में ही चक्कर लगाने लगा। न सुख से सोया और न सुख से कार्य किया तन के लिये। तन से काम लेता गया और उसे थकाता रहा।

यह मन भी विचित्र है, जो शीघ्र ही बुद्धि की बातें स्वीकार नहीं करता। जो मन में आया वही मन ने किया और कभी-कभी पछताता भी

रहा कि ऐसा मैंने क्यों किया, जो मेरे ही लिये बेचैनी का कारण बन गया ? मैंने विवेक की एक बात भी न मानी । अब परिणाम देख घबड़ाया। यदि विवेक की बात मान कर चलता तो कष्ट न होता, किन्तु अपनी आदत से लाचार फिर वही काम किया, जिसके लिये उसे पश्चाताप करना पड़ा था।

मन, तन का कार्य अनवरत् चलता आ रहा है, किन्तु न मन को चैन और न तन को चैन। सूक्ष्म वायु ने प्राणों को गति दी और सूक्ष्म मन ने तन को दी दुर्गति। सूक्ष्म भगवान ने सृष्टि बनाई और सूक्ष्म मन ने उस सृष्टि का भी दुरुपयोग ही किया। केवल दुरुपयोग ही नहीं किया। उसकी निन्दा भी की। उपकार को न मानने वाले को अशान्ति ही मिलेगी। शान्ति क्यों मिलने लगी ? जो शान्त नहीं रह पाता अपनी चञ्चलता के कारण उसे क्या मालूम कि शान्ति में क्या आनन्द है। इस आनन्द प्राप्ति के लिये ऋषि-मुनियों ने कुटिया बनाई, चिन्तन किया, अनेक प्रकार के साधन अपनाये, अच्छे-अच्छे ग्रंथों में अपने भाव प्रकट किये और एक दिन आनन्द में ही समा गये, किन्तु वहाँ मन के लिये चञ्चलता का स्थान न था और न तन को ही कष्ट दिया गया।

स्वेच्छा से किया हुआ कार्य न मन को कष्ट देता है और न तन को। मन की सृष्टि में भाग-दौड़ रहती है और जहाँ निरर्थक शक्ति का अपव्यय किया जाता है, वहाँ थकावट आती है शान्ति नहीं। मन, तन तो व्यक्ति को दिये गये थे किसी की भावना को व्यक्त करने के लिये न कि व्यक्त के स्थान में व्यय ही नहीं, अपव्यय करने के लिये। वस्तु कितनी ही सुन्दर क्यों न हो, भाव कितने ही मधुर क्यों न हो यदि उनका उपयोग उचित ढंग

से न किया जाये तो आनन्द कहाँ, शान्ति भी दुर्लभ हो जायेगी। मन, तन का घनिष्ठ सम्बन्ध यदि मधुर न हुआ तो दोनों ही अशान्त।

प्रकृति न किसी को कष्ट देती है न आराम यह तो मनुष्य का काम है कि उसकी गति विधि देख कर लाभ उठाये। जहाँ भीतरी प्रकृति की उपेक्षा की जाती है वहाँ बाहरी प्रकृति कैसे आरामदायक हो सकती है ? हो या न हो मन तो अपने मनोराज्य में इन बाहरी, भीतरी प्रकृति को प्रधानता नहीं देता। जो स्वयं शान्त नहीं रह पाता, वह पायेगा क्या खोता ही रहेगा जीवन का अमूल्य समय। समय की परवाह तो वह न करेगा जिसे कुछ ऐसा करना है जो अपने तथा दूसरे के लिये हितकर हो।

नीतिकार ने लिखा - “हित अनहित पशु पक्षी हूँ जाना” किन्तु शायद नीतिकार ने मनुष्य के मन की ओर ध्यान न दिया होगा जहाँ मनुष्य का मन शीघ्र किसी नीति वार्त्ता पर ध्यान नहीं देता। मन यदि हित, अनहित समझ पाता तो वह स्वयं बेचैन न रहता तथा तन को कष्ट न देता। यह भी कहा जा सकता है कि यह कार्य तो बुद्धि का है कि वह निर्णय दे कि इस कार्य में हित है और इसमें नहीं। मान लिया जाये बुद्धि ने तो निर्णय दे दिया किन्तु इस अबोध मन ने बुद्धि की एक न मानी तो बुद्धि क्या करे ? रावण को समझाने वाले भी कम न थे और दुर्योधन को भी कोई समझाने वाला था। क्या इन दोनों ने किसी की बात मानी जबकि ग्रन्थकारों का कहना है दोनों ही बड़े नीतिज्ञ थे ? कैसे मानते वे। उनका मन नहीं मानता था। हो गया एक के कुल का नाश तथा दूसरे का राज्य के अधिकार का नाश।

यह नाश किसकी कृपा का फल था ? कहना न होगा इसी मन की ही मेहरबानी थी। क्या आज भी यह किसी की शीघ्र ही बात मानता है ? उत्तर है, नहीं। दोषी अभिमान को भी ठहराया जा सकता है। जो बुद्धि की न माने, विवेक की न सुने वह अभिमान की बातें क्यों मान बैठा ? अभिमान का दोष इतना नहीं जितना इस मन का है जो किसी भी प्रकार शान्त नहीं रहना चाहता। चाहता है अनेक वस्तुएँ जो उसकी चञ्चलता में सहायक होती हैं, शान्ति ही नहीं चाहता। यदा-कदा बुद्धि जब इसे समझाने लगती है तब भी यह शान्त नहीं रहता। सुन भर लेगा किन्तु करता है मन चाही।

मोक्ष प्रदाता मन प्रभु कृपा से किसी-किसी को प्राप्त होता होगा यहाँ तो ऐसा ही मन देखा जाता है जो तन को बेहाल करता हुआ भी शान्त नहीं रहता। बन्धन में यह शीघ्र किसी के नहीं आता। हाँ, बन्धन का कारण अवश्य बन जाता है। बँधेगा शरीर, मन तो फिर भी चक्कर ही लगाता रहता है। बुद्धि समझाती है अरे मूर्ख, तूने मेरी एक न मानी उसी का दुष्परिणाम भोग रहा है न। मन क्यों मानने लगा क्योंकि कष्ट भोगता है तन। जब तन को मन के कारण किसी अपराध में दण्डित होना पड़ता है तो मन कुछ समय के लिये दुःखित होता है क्योंकि तन का संचालन उसकी इच्छा के अनुकूल नहीं हो पाता किन्तु दण्ड की अवधि समाप्त होने के पश्चात् फिर वही कार्य करवाता है तन से जिसके लिये तन दण्डित हुआ था।

उपर्युक्त बातें काल्पनिक नहीं। साधारण व्यक्ति भी इन्हें अमान्य नहीं कर सकता। यदि अमान्य करता है तो कहना होगा कि उसका मन नहीं मानता। मन माने या न माने किन्तु उसकी कीर्ति का वर्णन करना ही पड़ा।

शायद बुद्धि प्रसन्न हो कि मन की शैतानी की बातें कही गई अच्छा ही हुआ, निन्दा के पात्र की प्रशंसा कोई क्या करेगा ? मन कहेगा - यदि मैं तेरी बात न मानूँ तो तेरा कहना मेरे लिये अनर्गल प्रलाप ही न कहलायेगा। जानती है न बुद्धि मुझे बड़े-बड़े ज्ञानी ध्यानियों ने मोक्ष का भी कारण बताया है। चाहूँ तो एक क्षण में संसार के समस्त प्रलोभनों को लात मार मुक्त हो सकता हूँ अभी तो बन्धन के कार्यों का खेल-खेल रहा हूँ।

बुद्धि, चित्त, अहंकार यदि पूर्ण सहयोग न दें तो मोक्ष की तो केवल बातें ही है मन का यह कहना भी कि मैं खेल-खेल रहा हूँ निरर्थक कथन होगा। मन, तन में, तन को ही अधिक कष्ट उठाना पड़ता। मानसिक कष्ट, तन के कष्ट से अधिक दुःखदाई होता है किन्तु वह मानसिक कष्ट बुद्धि के निर्णय पर निर्धारित है। मन की सृष्टि सूक्ष्म होती है। वहाँ मन अपनी कल्पना से मनुष्य तथा वस्तु को उपस्थित कर बातें करने तथा वाक् युद्ध करने लगता है और यह कल्पना ही स्थूल रूप धारण कर लेती है जब मन की कल्पना वाला व्यक्ति सम्मुख आ जाता है स्थूल रूप में।

स्वप्न-जगत में भी यही मन सूक्ष्म शरीर को नाच नचाता है। स्थूल शरीर तो थक गया इसकी कृपा से किन्तु मन शान्त रहने वाला नहीं। उसने प्रवेश किया स्वप्न जगत में और मनमानी करने लगा सूक्ष्म शरीर के साथ। इस स्वप्न जगत में बुद्धि का प्रवेश नाममात्र के लिये कभी-कभी होता है। जो कार्य मन स्थूल जगत में न कर पाया किसी कारणवश उसे वह स्वप्न जगत में करता देखा जाता है। जिस कार्य को मन पसन्द करता है उसे वह बड़े उत्साह से करता है उसके परिणाम की ओर ध्यान नहीं देता। देता है तभी, जब बुद्धि उसकी सहायक होती है।

मन की निन्दा स्तुति की बातें नहीं कही गई है कुछ बातें कही गई इस मन की गतिविधि के रूप में। तन त्राहि-त्राहि भी करे तो भी मन उसकी एक भी नहीं सुनता। मन मान-सम्मान का बड़ा भूखा है। जहाँ उसका मान नहीं वहाँ भूल कर भी जाना नहीं चाहता चाहे बुद्धि उसे अनेक बार समझाये। कार्य बनता है जब मन बुद्धि का सहयोग प्राप्त कर अहंकार शून्य हो कार्य करता है। तन को तो यह मन अनेक बार तंग करता ही रहता है किन्तु कभी-कभी यह मन भी तंग हो जाता है भीतर बाहर के विचारों से।

भीतर के विचार उसके (मन के) पूर्व संस्कार तथा बाहर के विचार जो परिस्थिति उसके सम्मुख वर्तमान में रहती है। इन दोनों का दबाव जब जबरदस्त होता है तो यह भी त्राहि-त्राहि करने लगता है और ऐसे समय बुद्धि ही इसकी सहायता करती है। बुद्धि यदि निर्मल हुई तो मन को क्षणिक शांति मिलती है नहीं तो पुनः यह घड़ी के पेन्डुलम की तरह चक्कर काटने लगता है।

विचित्र है यह मन जो मोक्ष तथा बन्धन का कारण है। जब शांत रहता है तो प्रसन्न हो ऐसे कार्य करता है, बुद्धि की सहायता से कि आश्चर्य होता है कि यह विषयों के पीछे दौड़ने वाला मन आज विषयों को ही अपना दास बना लेता है। ऐसा मन प्रभु भक्तों को ही प्राप्त होता है। अन्य जन तो इस मन के कारण परेशान ही रहते हैं।



## दिगम्बर तेरा रूप

रूप की दिवानी दुनिया दिगम्बर के रूप को क्या समझे ? दिगम्बर बड़ा मतवाला होता है। दिवानी दुनिया किसी और मत को मान दिवानी ही बनी रहती है, होश में नहीं आती। किन्तु यह दिगम्बर होश और जोश के साथ ही मतवाला रहता है। दुनिया के लोग सब कुछ गवाँकर होश में आते हैं और जोश रहा कहाँ उनके पास, बदहोशी में ही “चुनड़ी में दाग लगा लेते हैं” किन्तु यह दिवाना दिगम्बर तो “ओढ़ कर भी, ज्यों की त्यों धर दीनी चुनड़िया।”

मतवाला, होश और जोश में रहे यह देखा नहीं जाता ऐसा बुद्धि प्रधान व्यक्ति कहेंगे। ये बुद्धि वाले अपनी-अपनी पहुँच तक ही न बात कहेंगे। किन्तु जो इनकी बुद्धि की पहुँच के परे चला गया वहाँ ये क्या कह सकेंगे ? ये अन्य व्यक्तियों को यही न समझायेंगे कि ऐसा हो नहीं सकता कि मतवाला होश और जोश में रहे। इन बुद्धिमानों ने ऐसे मतवाले तो देखे हैं जो मतवाले होते हुए भी जोश में हाथ-पैर फटकारते हैं तथा बुद्धिहीनता के कारण किसी की हत्या भी कर डालते हैं किन्तु ऐसे मतवाले नहीं देखे जो सभी मतों को तिलांजली दे किसी ऐसे की प्राप्ति के लिये मतवाले हो जाते हैं जो इन मतवालों को देख स्वयं भी मतवाला हो जाता है।

अम्बर आकाश, अम्बर वस्त्र। इस मतवाले ने अपने वस्त्र उस अम्बर (आकाश) को दे दिये जो ऐसे मतवालों के अम्बर ग्रहण कर अपना अम्बर नाम सार्थक समझता है। दुनिया के भिक्षुकों की आवाज सुनते-सुनते

अम्बर धैर्य खो बैठा किन्तु आज उसने उस प्रेम भिक्षुक को देखा जिसने अपना सर्वस्व अर्पण किया प्रेमधन के चरणों पर। अम्बर (आकाश) देखकर चकित हो गया इस प्रेम भिक्षुक को और बोल उठा यह मतवाला है, उसीका मतावाला है जिसका मैं मतवाला हूँ। स्वागत करता है अपना साथी समझ कर और कहता है अम्बर कहलाता हुआ भी अम्बर (वस्त्र) धारण न मैंने किये और न तुमने। वस्त्र दे दिये तुमने इन बुद्धिमान अज्ञानियों को जो सदा चर्चा करते रहेंगे यह कैसे हो सकता है और वह कैसे हो सकता है। जिसकी पहुँच नहीं होती वह ऐसी ही बातें कहा करता है।

दिशाएँ देखती रह गयी और इस मतवाले ने इन दिशाओं को भी वस्त्र दिये जो वाणी के रूप में थे। मौन हो गया अपने प्रियतम के रूप को देखकर। लोग उसे गूँगा (बाबा) कहने लगे। वह गूँगा था नहीं और न है। उसने वाणी दे दी अपनी सन्तान को। स्वयं गूँगा बन बैठा अपने प्यारे बच्चों के लिये।

दिगम्बर के रूप का प्रशंसक साधारण जन क्या बुद्धिमान भी नहीं होते। वे उसके शारीरिक रूप की नग्नता को देखकर या तो सिर नीचा कर लेते हैं या उससे घृणा करने लगते हैं। वह केवल शरीर से ही नग्न नहीं होता उसके हृदय पर भी आवरण नहीं रहता। जब तक हृदय पर आवरण रहेगा, वह शरीर के आवरण का त्याग नहीं करता। संसार के लोग मान, लज्जा, भय के कारण उस दिगम्बर को नहीं पहिचान पाते किन्तु दिगम्बर ने इन तीनों को तीनों लोक को समर्पित कर अपने प्रिय के प्यार में ऐसा मस्त हो गया कि उसने वस्त्र नहीं त्यागे वह तो बस तर हो गया और दिशाएँ उसके इस रूप को देख मुग्ध हो गईं।



रूप क्या है ? रूप वह जो अरूपी में समा जाये और अपने शरीर के रूप को रूप न समझे। महा पुरुषों की सुन्दरता उनका शारीरिक सौन्दर्य नहीं हुआ करता, उनकी सुन्दरता तो उनकी वाणी है जिसे प्राणी सुन अपने प्राण न्योछावर कर देता है। आत्मा की अमरता के भाव ने भय दूर किया। जो शरीर की नश्वरता को प्रधानता देता है वह कब अभय रह सका ? धर्म तो कोई खिलवाड़ नहीं, जिसके हृदय में अमरता का भाव नहीं वह धर्म को क्या समझेगा ?

जिस महापुरुष ने सर्वप्रथम आत्मा की अमरता का अनुभव किया उसने अभय होकर घोषणा की आत्मा अमर है और जिस प्राणी ने इस विश्वास को हृदय में स्थान दिया वह अभय हो गया, दिगम्बर हो गया भीतर से। विचारों का आवरण हटा और हृदय दिगम्बर हुआ। बाहरी सुन्दरता की आँखें बाहर हैं और भीतर की सुन्दरता की जानकारी तो भीतरी आँखें ही करवाती हैं। इन भीतरी आँखों को दिव्य चक्षु कहते हैं। बाहर की सजावट के लिये उद्विग्न व्यक्ति तो देखे जाते हैं किन्तु भीतरी सजावट को ये चर्म चक्षु देख नहीं पातीं। यदि देख पातीं तो इनका बाहरी आकर्षण, आकर्षण ही न रहता। देख पातीं ये आँखें दिगम्बर के रूप को जो भीतर और बाहर समान था तो दुनिया के सामान इन्हें लुभा न पाते।

दिगम्बर का भी क्या रूप हुआ करता है, वह तो गंगा है उसका रूप क्या, ऐसा भी लोग कहते हैं। इस भगवद् प्रेमी दिगम्बर को जिसे दुनिया के लोग गंगा कह उपेक्षा करते आये, यदि भाव भक्ति से देख पाते तो कामुकता पलायन कर जाती और बहती हृदय में भाव की गंगा, प्रेम की गंगा जिसे दिगम्बर शिव ने मस्तक पर धारण कर वह मस्ती पाई जिसे

प्राप्त करने के लिये पार्वती को घोर तप करना पड़ा। पागल थी वह पार्वती जो दिगम्बर (नंगे) शिव पर मोहित ही नहीं हुई, सर्वस्व अर्पणकर, अन्नपूर्णा बनी।

आँखों में पवित्र भाव आये कहाँ से दिल जो गन्दा है। गन्दा है अतः मस्तक पर गंगा वाले के दिगम्बर भाव को क्या समझे। जो आनन्द, जो मस्ती शिव ने ली उसके लिये चतुर्मुख तरसता रहा, चतुर्भुज छटपटाता रहा। चार वेदों की ध्वनि चारों दिशाओं को मुखरित करती रही किन्तु उस ध्वनि के धन को अपनाया किसने ? उसीने जो नर रूप धारण कर नरड़ (राजस्थान का एक गाँव) आया और दिगम्बर वेश ही उसका, भक्तों को सदा विशेष आनन्द देता रहा।

तुझे लोगों ने नंगा समझ तेरी निन्दा की (मंडेले वासियों ने)। तू तो शिव था और शिव है भक्तों के लिये। भाव गंगा तेरे मस्तक की शोभा बढ़ाती रही। मुख से ब्रह्म ज्ञान की बातें कहता और हृदय में प्रेम गंगा प्रवाहित रहती। बुद्धिमान व्यक्ति कहेंगे ऐसा व्यक्ति तो महात्मा कहलाने के योग्य भी नहीं है जो मुख से कुछ कहे और हृदय में कुछ और ही रखे। उन महा अज्ञानियों को कौन समझाये ? दिया प्यार दो भक्तों को जिसे लोगों ने वासना समझ सदा उस महापुरुष की निन्दा की। वासना में सना व्यक्ति प्यार को क्या समझे ?

दिया था प्यार भगवान श्री कृष्ण ने उन गोपियों को जिसे आज भी लोग समझ न पाये कि वह प्यार था या वासना थी। कृष्ण योगी थे कि भोगी इसका निर्णय आज भी बुद्धिमान लोग कर नहीं पाये। श्री कृष्ण आज भी

बदनाम हैं चीर हरण लीला के कारण। लोगों ने ऊपरी चीर (वस्त्र) हरण को ही समझा किन्तु वे इसे क्यों नहीं समझे कि जब तक आवरण हृदय पर पड़ा रहता है वह उस दिव्य रूप की झाँकी नहीं देख पाते। भगवान श्री कृष्ण यदि हृदय चीर कर दिखलाते हुए यह कहते कि मैंने यह चीर हरण लीला वासना से अनुप्राणित होकर नहीं की है तो क्या लोग मानते ? मैं वासना का भूखा नहीं, मैं वासुदेव तो वास करता हूँ अपने भक्तों के हृदय में। बुद्धिमान आज भी कहते हैं कि उस समय स्त्रियाँ वस्त्र उतार कर यमुना में स्नान करती थीं उसी गन्दी प्रथा को बन्द करने के लिये उन्होंने, चीर हरण लीला की थी। बड़ा सुन्दर उत्तर है इन वासना के पुजारियों को। आवरण हृदय का हटाना किसी महायोगी की ही शक्ति है इन वासना के पुजारियों की नहीं। सूक्ष्म कार्य जब स्थूल के रूप में दिखलाया गया तो महायोगी भी महाभोगी समझा जाये यह बुद्धि की बलिहारी है।

अनुपयुक्त व्यक्तियों ने भगवान श्री कृष्ण की बाल-लीला को ऐसा रूप दिया कि रासलीला तो हास लीला (भावों की) के रूप में आई। यही नहीं सती शिरोमणी सीता को भी इन महा अज्ञानियों के कारण भूमि में ही समा जाना पड़ा। एक ओर उनको भगवान और भगवती मानते हैं (श्री कृष्ण और सीताजी को) और दूसरी ओर आज भी सन्देह के कारण बने हुए हैं भगवान श्री कृष्ण और श्री सीता। यह धर्म है या अधर्म कि हम अपने महापुरुषों को सन्देह की दृष्टि से देखें। ऐसी ही अवस्था रही दिगम्बर तेरे जीवन काल में। लोग तुझे पहचान न सके। जिनको तैने अपनाया उनमें से भी कुछ ने ही तुझे अपना त्राता, माता, भ्राता समझा और तेरी साधना का आनन्द पाया।

दिगम्बर का रहस्य समझना तो और भी कठिन है। वह कौन सा रस था जिसे पाकर वह दिगम्बर हुआ ? इन्द्रियों के रसपान करने वाले तो अपने को वेश-भूषा से सजाते पाये गये किन्तु इस दीवाने को तो वस्त्र क्या अपने शरीर तक का भान न रहा। इसने भी दुनिया देखी थी, सम्मान वाली दुनिया देखी थी जहाँ महन्त पद था, धन था, भक्त थे और था कुछ दुनिया-दारी का सामान। रस न था, जिस रस का वह प्यासा था। प्यास उग्र हुई, तोसाम की पहाड़ी के पेड़ों की सूखी पत्तियाँ चबा कर। सद्गुरु के दर्शन हुए, प्यास मिटी, त्रास दूर हुई, जगत के मान अपमान की और वह रस पाया जिसे देख दुनिया ने सर झुकाया और भक्तों ने ज्ञान, भाव रस पाया। जप तप तो उस दिगम्बर रसिक ने स्वयं बहुत किया था अपनी (मानसिक) मानस सन्तान के लिये ज्ञान सुधा का परिवेशन किया। रस पाना आसान हुआ उन भक्तों के लिये जिन्होंने भाव योग को अपनाया।

सन्देही भक्त दिगम्बर के, कह बैठते हैं तू (दिगम्बर) भावुक न था विनोदी था किन्तु भोले भक्त यह नहीं जानते कि भावुक हृदय ही विनोदी हुआ करता है। गम्भीरता धारण किय हुए साधु सन्यासी देखे जाते हैं, सन्त जगत तथा भक्त को हँसाते हुए उस अवस्था में पहुँचा देता है जहाँ ये साधु और सन्यासी सरसता का परित्याग करते हुए जीवन को नीरस बना निरर्थक गम्भीरता का अवलम्बन कर, पहुँच नहीं पाते या शायद ही पहुँच पाते हों। नहीं पहुँच पाते कहना नीतिगत शिष्टाचार का अभाव कहा जायेगा किन्तु कभी-कभी कटु सत्य का भी कथन करना पड़ता है। अधिकांश साधु, सन्यासियों में नम्रता का अभाव देखा गया है। गृहस्थी तो ऐसे महात्माओं के सम्मुख बोलने का भी अधिकारी नहीं। ये भी सनातन धर्म के जमींदार हैं

जिनकी जर्मीदारी क्रमशः लुप्त होती जा रही है। इनके लिये कटु सत्य का प्रयोग किया गया इसके लिये दिगम्बर के सम्मुख हम क्षमा प्रार्थी हैं।

दिगम्बर ! तेरे रूप का आनन्द ग्रहण करते-करते न जाने कैसे इन तथाकथित महात्माओं की चर्चा में आ फँसे। तू ने साधुता पाई थी बचपन में ही अतः एक बार कहने लगा अपने भक्तों से कि मैं तो बचपन से ही साधु था। मुझे मालूम न था कि इसी अवस्था को साधुता कहते हैं, अतः अपनी सन्तान को गृहस्थ में ही रहते हुए प्रभु प्रेम पाने का आदेश दिया।

दिगम्बर तेरा रूप समाया हुआ है तेरे प्रिय भक्तों के प्राणों में। वे तेरी वाणी पर अपने प्राणों को न्योछावर करना अपने जीवन की सार्थकता समझते हैं। स्थूल शरीर के रूप में परिवर्तन होता है तथा रूप नाशवान भी है, किन्तु सूक्ष्म शरीर के रूप को कौन नाश कर सकता है ? सूक्ष्म शरीर का अर्थ यहाँ मन नहीं है। मन तो भ्रमर है, रसपान करता भ्रमण करता है और स्थिर नहीं रह पाता, जब तक कि वह अरूपी के रूप को नहीं अपनाता। अपना नाता तो वस्तुतः अरूपी से ही है जिसके अनेक रूप और एक भी रूप नहीं।

जिस रूप की यहाँ चर्चा की जा रही है वह वाणी है। आज राम नहीं, कृष्ण नहीं किन्तु उनकी वाणी, भक्तों के हृदय में गूँज रही है। मन्दिरों का रूप (भगवान राम तथा कृष्ण का) बदलता रहता है चित्रकारों की कल्पना के अनुसार, किन्तु उनकी वाणी का मन्दिर तो भक्त का हृदय है। वाणी प्राणी का जीवन है तथा जीवन बनाती है यदि यह भगवान की हो, भगवान के भक्तों की हो। दिगम्बर का रूप उसकी वाणी है, जो प्राणी को

ऐसा रसमय बना देती है कि अन्य व्यक्तियों की वाणी को आवाज कहता है वाणी नहीं।

एक ही वस्तु या व्यक्ति को देखने की क्रिया भिन्न हुआ करती है मनुष्य के मानसिक स्तर के कारण। साधन सम्पन्न व्यक्ति ने यदि दिगम्बर वेश धारण कर रखा है तो उसका महत्त्व है। कामी व्यक्ति भी नग्न होता है और उसकी नग्न अवस्था अधिक कामुकता का कारण है पवित्र भावना का नहीं। भावना के अनुसार व्यक्ति के अंग-प्रत्यंग की क्रिया देखी जाती है। दिगम्बर है उसने लोक-लाज को तिलाञ्जली दी है। इन्द्रियों पर उसका पूर्ण नियन्त्रण है। शमन, दमन को उसने अपनाया है, उसके रूप को समझेगा वही जिसने साधना पथ का अनुसरण किया है।

अभाव में नग्न देखे जाते हैं। विक्षिप्त अवस्था में भी नग्न देखे गये, जिनके धर्म का एक अंग है नग्नता, ऐसे भी व्यक्ति देखे गये, किन्तु प्रेम में विभोर, मस्ती की हस्ती में मग्न हो दिगम्बर हो गया उसका रूप अपूर्व ही होता है। जो तेरा हो गया उसके लिये वस्त्र प्रधान नहीं। वस्त्र गैरिक हों या पीत, श्याम हों या श्वेत, इसकी ओर उसका ध्यान नहीं रहता। वह तो रहता है तेरे चरणों की रज बन कर। विषय वासना की अग्नि को बुझाने के लिये तेरी चरण रज ही महा औषधि है।

जलती हुई वस्तु पर धूलि डालने से आग बुझ जाती है। यदि आग बुझे विषय वासना की तो दूसरी अग्नि प्रज्वलित हो, वह अग्नि प्रेमाग्नि है, जिसे मीरा ने अपनाया और एक दिन गिरधर गोपाल की प्रतिमा में ही समा गई। समाना तो शम्मा बनना नहीं परवाना होना है जो शम्मा में

जलकर ही इहलीला समाप्त करता है किन्तु शम्मा और परवाना की दुनिया रूप की दुनिया है, स्थूल रूप की दुनिया है जिसके लिये आत्म-हत्या करने वाले भी अनेक हैं आधुनिक दुनिया में। यहाँ आत्महत्या नहीं आत्मदेव को आत्म समर्पण है। वासना और प्रेम का अन्तर यहीं देखा जाता है। एक वासना का पुजारी है जो आत्महत्या करता है अपनी प्रेयसी की प्राप्ति के अभाव में और दूसरा भावपूर्ण होकर आत्म समर्पण करता है प्रभु चरणों में।

अरूपी के रूप की कल्पना की गई भगवान राम और कृष्ण के रूप में। अवतारी भगवान की कल्पना कर चित्रकारों ने चित्र बनाये तथा मूर्तिकारों ने मूर्ति किन्तु ये सन्त तो अरूपी की बोलती चलती मूर्ति ही नहीं परछाई हैं अरूपी की। अरूपी की परछाई कैसे होगी यह प्रश्न हो सकता है किन्तु यदि थोड़ा भी विवेक से काम लिया जाये तो यह आसानी से समझा जा सकता है। मन का कोई रूप नहीं, किन्तु मन का भाव मुख पर आता है। मन उदास है तो उदासी मुख पर आती है। यह उदाहरण तो अति साधारण है किन्तु अरूपी की परछाई इनके मन तथा तन पर आती है।

मन प्रेम विभोर हो गया तथा तन पर आभा छा गई। मुख देदीप्यमान, आँखें प्रेम ज्योति से जगमगाती हुई दया प्रेम बरसाती हैं। जिन्हें ऐसे सन्त के दर्शन का अवसर प्राप्त न हुआ वे इसे मिथ्या मानें तो उनका दोष नहीं। सभी वस्तु, सभी भाव तो सब को प्राप्त नहीं होते। अर्थ संग्रही अर्थ की ओर अधिक ध्यान देता है तथा परमार्थी का धन है परम पुरुष। इसका अर्थ यह नहीं कि परमार्थी जागतिक अर्थ से वंचित रहता है। उसे तो दोनों ही अर्थ प्राप्त होते हैं।

ये सन्त समर्थ होते हैं। इन्हें भी वही शक्ति प्राप्त होती है, जितनी की अवतारी भगवान को प्राप्त है। ये भी जीवों का उद्धार उसी प्रकार करते हैं जिस प्रकार की अवतारी भगवान करते हैं। अवतारी भगवान कहीं स्पर्श से उद्धार करते हैं कहीं भाव से। ये सन्त स्पर्श का कहीं-कहीं प्रयोग करते हैं अधिकतर साधना का मार्ग निर्देश कर जीवन का उद्धार करते हैं।

सम अर्थ पाकर सन्त समर्थ होते हैं तथा अपनी सन्तान को भी समर्थ बनाते हैं। समभाव से वह अर्थ प्राप्त होता है, जो लोक और परलोक के लिये सहायक होता है। समता में ममता का स्थान नहीं। जहाँ ममता की प्रधानता है वहाँ मोह का होना स्वाभाविक है। जो इस लोक की वस्तु तथा व्यक्ति पर मोहित हो गया वह हित् के स्थान पर अहित् ही अधिक कर बैठता है। बैठता है और ऐसा जमकर बैठता है कि अन्त में जम (यम) ही आ उपस्थित होता है और प्रस्थान करना पड़ता है पश्चाताप के साथ। साथ में जाता है उसका मोह जो उसे पुनः किसी न किसी रूप में इसी स्थान पर लाता है जहाँ से उसने प्रस्थान किया था। कैसा चक्र है जीवन मरण का कि उससे निस्तार पाना कठिन हो जाता है।

निस्तार हो कैसे, जीव का तार लगा है मोह से, मोहन से नहीं। ये सन्त ही मोह के हनन करने का मार्ग बतलाते हैं और लाते हैं ऐसे जीवों को भाव लोक में कि जहाँ मोह नहीं, अभाव नहीं। भावलोक में ही यदि अभाव की धारणा बनी रही तो वह भाव लोक कैसा ? अभाव ही अधिकतर मोह का कारण बनता है। बहुत परिश्रम के पश्चात् वस्तु की प्राप्ति हुई। प्राप्त वस्तु की अनवरत रक्षा का भाव मोह में परिणत हो जाता है। बुद्धिमान व्यक्ति प्राचीन परिभाषा को ही मान्यता देता है नवीन परिभाषा प्रथमतः उन्हें



सन्तोष नहीं देती तथा सन्देह का कारण भी बनती है। अन्वेषक खोजता है नवीन दृष्टिकोण से तथा जब उसे कुछ उपलब्धि होती है तो वह उस उपलब्धि को अपनी परिभाषा में व्यक्त करता है। जो व्यक्ति अन्य जनों की बातों को मान्यता देता आया है जिन्हें वह ऋषि मुनि कहता आया वह शीघ्र ही नवीन परिभाषा को क्यों ग्रहण करने लगा ?

जिस दिगम्बर की बातें अब तक कही गईं उसने त्याग की परिभाषा की “जो स्वतः छूट जाये, वह है त्याग।” बुद्धिमान व्यक्ति पुनः कहेंगे स्वतः भी कभी छूटता है, बार-बार परिश्रम करने पर भी विषय वासना का भाव नहीं छूटता, वहाँ स्वतः छूटने की बात कह कर व्यक्ति को भ्रमित करना है। सन्त का कार्य भ्रम फैलाने का नहीं, भ्रम दूर करने का है। धर्म के नाम पर भ्रम फैलाने का काम तो साधु सन्यासियों ने ले रखा है उस पथ का अनुगामी तो यह सन्त नहीं। जीवन में इसने उतार चढ़ाव देखे, साकार, निराकार का रहस्य समझा तथा उन लोगों को भी देखा जिन्होंने मौखिक ही माया की निन्द्या की किन्तु मन से वे माया के उपासक ही देखे गये अतः अनुभव के आधार पर उसने स्वतः त्याग को श्रेष्ठ समझा तथा अपने जीवन काल में इसी सिद्धान्त को अपनाया।

तुलसीदास की यह उक्ति बहुत कुछ अर्थ रखती है दूसरों को उपदेश देने वाले अनेक देखे गये किन्तु उपदेश के अनुसार अपना जीवन बनाने वाले अति अल्प। सत्य बात मिथ्याचारी को बहुत बुरी लगती है क्योंकि सत्य बात उसी ओर संकेत करती है जिसे मिथ्याचारी बुद्धि बल से छिपाकर रखता है। मीरा ने भी एक कामुक साधु की कामुकता को नग्न रूप में दिखलाया था वह वार्त्ता प्रचलित है। जो भी हो, प्रकाश का सामना आज

तक भी अन्धकार कर न सका। यही बात मोह तथा त्याग की परिभाषा की है।

परिभाषा का घनिष्ठ सम्बन्ध भाषा से है भाव से नहीं। योग की परिभाषा भी भिन्न-भिन्न देखी गई है - कर्म में कुशलता भी योग है और चित्त की वृत्तियों का निरोध भी योग है। इसके अतिरिक्त कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग, हठयोग, राजयोग आदि अनेक योग हैं किन्तु भावयोग का उल्लेख नहीं देखा गया। कुछ लोगों का विचार है कि भावयोग, राजयोग के अन्तर्गत आ जाता है किन्तु भावयोगी यदि यह कहे कि अन्य सब योग भावयोग में समाहित हैं। भाव के अभाव में कर्म, भक्ति, ज्ञान, हठ, राजयोग आदि योग केवल कर्मकाण्ड को प्रधानता देने वाले योग होंगे और उनके द्वारा हृदय में रस का प्रादुर्भाव नहीं होगा। कर्म ही इन योगों में प्रधान रहेगा। अन्य योगियों का कार्य विशेष सफलतादायक नहीं होगा यह कहना उचित न होगा।

वह साधक जिसने अनेक धर्मों की पद्धति के अनुसार साधना की उसका भी यही कहना रहा “जितने मत, उतने ही पथ” यह कहना ठीक है। सब का मत एक सा नहीं, सबका भजन एक सा नहीं, सबका भोजन एक सा नहीं जब कि भजन किया जाता है मानसिक शान्ति के लिये तथा भोजन क्षुधा निवृत्ति के लिये। ऐसा भी कहते हैं लोग भगवान तो भाव का भूखा है। कौन किसका भूखा है यह कहना कठिन है। यह भूख भी सब की एक प्रकार की नहीं। कोई तन का भूखा है (भोग, वासना आदि) कोई मन का भूखा है (साहित्य, संगीत, सत्संग आदि) इन भूखों की भूख कभी नहीं मिटती। वासना तो अग्नि है जो प्रज्वलित ही रहती है अप्राप्य वस्तु पाकर भी।

साहित्य, संगीत, सत्संग आदि का भी अन्त नहीं। लघु जीवन, अपार वस्तु, भाव का भण्डार इन्हें पूर्ण रूप से प्राप्त करना एक जीवन तो क्या अनेक जन्मों में भी सम्भव नहीं। फिर दिगम्बर के रूप को समझ हृदय में स्थान देना सरल नहीं। सरल हो सकता है भाव योगी के लिये।

भावुक और भावयोगी में अन्तर है। भावुक को कोई भी भावपूर्ण बात हँसा सकती है, रूला सकती है किन्तु भावयोगी केवल रोना-हँसना नहीं चाहता अपने भाव में पूर्णता चाहता हुआ उसी में समा जाना चाहता है। भावुक - भाव का क्षणिक विलासी, भाव योगी - चिर शाश्वत् अविनाशी का प्रेमी। वासना भावुक हृदय में भी प्रधान नहीं रहती किन्तु भावयोगी तो प्रेम पुजारी, भाव पुजारी, उसकी दुनिया स्थूल जगत से न्यारी। विचित्र है यह संसार और विचित्र है यह भावयोगी।

संसार में अभाव की प्रधानता और भावयोगी के हृदय में अभाव के लिये स्थान नहीं। संसार के साधारण जन इस भूमि पर ही अपने रहने के स्थान को बनाने के लिये चिन्तित और भावयोगी का स्थान तो अपने इष्ट का हृदय होता है। संसार में ऋषि मुनियों ने आश्रम बनाये तथा साधु, सन्यासियों ने मठ आदि किन्तु भावयोगी का आश्रय तो उसका इष्ट ही है। वह इन महलों का उपासक नहीं उसका महल है शून्य गगन जहाँ रहता है भाव मगन।

दिगम्बर तू ने न आश्रम बनाया न मठ। तू ने श्रम किया उन भाव प्रधान सन्तानों के लिये जो तेरे दिगम्बर रूप को देख भूल गये तन, मन का दुःख। पाया आनन्द जो तेरी कृपा का फल है। दिगम्बर को शिव की उपमा

देकर भी भक्त हृदय सन्तुष्ट नहीं होता। शिव के भक्त ने अपने शीश काटकर शिव को प्रसन्न किया किन्तु एक बार जब तेरे एक भक्त ने तुझे प्रसन्न करने के लिये प्रश्न किया - बाबाजी आप किस वस्तु से प्रसन्न होते हैं तो तू ने उत्तर दिया था - मैं तेरी प्रसन्नता से ही प्रसन्न हूँ। निर्वाण काल के कुछ समय पूर्व जब भक्तों ने तेरी स्मृति के लिये मन्दिर बनाने का प्रस्ताव रखा तो तू ने कहा था मुझे स्मृति मन्दिर की चाह नहीं, यदि तुम कुछ बना कर ही प्रसन्न होना चाहते हो तो साढ़े तीन हाथ का एक चबूतरा बना देना जिस स्थान पर पथिक बैठ कर अपनी थकावट मिटा सकें। ऐसा निर्लोभी था तू कि जिसका जोड़ा आधुनिक काल में पाना कठिन है।

रूप तेरा, ऐसा रूप था कि जिसने तुझे भाव-भक्ति से देखा वह सदा के लिये तेरा हो गया। मौन धारण कर तू ने अपने अबोध बच्चों को ऐसी वाणी दी कि उनकी वाणी सुन, लोग विश्वास ही नहीं कर पाते कि यह वाणी गृहस्थ संतान की हो सकती है। श्रोता को क्या मालूम कि इन अबोध संतानों के भीतर वह दिगम्बर बोल रहा जो अपने बच्चों के लिये अंतिम श्वास तक मौन रहा यह देखने के लिये कि मेरी साधना का फल इन बच्चों के लिये अपूर्व वाणी का प्रेरक बनें। आज तेरे बच्चे कलम ले, तेरे भाव, ज्ञान मिश्रित उद्यान में भाव के कमल खिल रहे हैं जिन्हें देख तथा सुनकर अनेक भाव प्रधान व्यक्ति अमर पथ आनन्द पथ के पथिक बन रहे हैं।

\*\*\*

## मेरे साथी

प्राणी का साथी प्राण। प्राणों का साथी प्राण वायु। वायु का साथी शक्ति। शक्ति का साथी प्रकृति। प्रकृति का साथी पुरुष। पुरुष का साथी जड़, चेतन के प्राण। मेरा साथी वह जो मेरे प्राणों को गति देता हुआ भी अपरिचित रहता है। एक जन्म नहीं, अनन्त जन्मों का साथी है वह किन्तु मौन है, शान्त है। इस अपरिचित साथी से परिचय कौन कराये ? जिसे इस अपरिचित साथी का परिचय प्राप्त हुआ है।

आया संसार में किसी से परिचय न था। किसी ने कहा माँ कहकर पुकार, यह तेरी माँ है, ये तेरे पिता हैं। ये देख तेरे भाई हैं तुझे प्यार कर रहे हैं। किसी को पुकारना होगा, मैं अबोध शिशु, जैसा परिचय करवाया गया पुकारना प्रारम्भ किया। साथियों की संख्या बढ़ती गई किन्तु देखा उनका व्यवहार, वे मुझे खिलौना समझ अपना मन बहलाने लगे। अभी शिशु था, जैसा सिखलाया सीखता, कहलाया जाता कहता। अब धीरे-धीरे समझने की चेष्टा करता।

अवस्था बढ़ी, सांसारिक अर्थोपार्जन की शिक्षा ग्रहण करनी पड़ी। अब युवावस्था आई। मन के खेल तीव्रता से बढ़ने लगे। युवक को युवती मिली साथी, साथी के रूप में। अब तक शरीर के साथी ही मिले थे। प्राणों के साथी से परिचय न हुआ था। प्राणों में यदा कदा व्याकुलता अनुभव करने लगा। अब यह समझने लगा ये साथी नहीं, स्वार्थी हैं जो अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिये मुझे अनेक नामों से पुकारने लगे। किसी का पुत्र था, किसी का पिता, किसी का भाई था, किसी का निकट सम्बन्धी। सम्बन्धी तो

थे किन्तु सम रूप से बन्धन में न आते थे। बन्धन ग्रसित करने में लगे थे, मुक्त करने में नहीं क्योंकि वे भी बन्धन में बँधे थे। ऐसे साथियों का साथ तो अनेक जन्मों का कारण बनता है।

साथी तो वह जिसका पृथकत्व एक क्षण के लिये असह्य हो जाये। शरीर के सम्बन्धियों में ऐसा एकत्व होता ही नहीं उन सम्बन्धियों के भी अनेक काम होते हैं तथा शरीर रक्षा के लिये मनुष्य के भी। शरीर के साथियों की ही ऐसी अवस्था होती है ऐसी बात नहीं यहाँ तो शरीर के अवयवों की भी ऐसी अवस्था है। यह मन जो चंचलता के लिये विख्यात है कहाँ तक साथ देता है ? चक्कर काटता रहता है और निरर्थक कल्पनाओं को सम्मुख ला, विचारों के चक्र में फँसाता रहता है। बुद्धि यदि साथ देती तो मन को बाध्य होकर शुद्ध, बुद्ध भाव को प्रेरित करती। चित्त यदि शान्त रहता और चिन्तन मे लीन रहता तो यह भव भार सम प्रतीत न होता। चिन्ता समीप आने का साहस न करती।

प्रत्येक क्षण का चिन्तन कुछ ऐसा होता कि जीवन की मधुर कलियों का समर्पण होता किसी ऐसे को जिसके चरण स्पर्श मात्र से खिल उठती और पूर्ण आनन्द पुष्प की सौरभ से रोम-रोम पुलकित होता। चित्त जब सत्य का चिन्तन करता तो आनन्द में परिप्लावित हो ऐसी डुबकी लगाता कि स्वयं तो सत्चित्त आनन्द में समाहित होता तथा अन्य भवसागर में डूबते हुए प्राणियों की रक्षा का कारण बन प्राणी कहलाना सार्थक होता। होता-होता कहता चला जाता है प्राणी इस भव से, किन्तु कोई साथी मिलता जो भव में भाव ऐसा भाव प्रसारित करता कि

जन्म-जन्मान्तर का अभाव मिटा देता तथा मिला देता उससे जिससे वियोग सम्भव नहीं।

ये चित्त वृत्तियाँ जो अब तक नचाती रही प्राणी को वे नाचने लगती उस साथी के सम्मुख जिससे प्राणी युगों से विमुख रहा। क्या रहा प्राणी तेरे पास जब तू विमुख रहा ? मुख पाकर भी मुख्य के सम्मुख खड़ा होकर कह न सका कि मेरे मुख की कालिमा मिटाओ। हृदय की कालिमा तो मिटेगी ही प्रथम इस मुख की कालिमा तो दूर हो। मेरे साथी, मेरे जीवन साथी अनजान में (अज्ञान में) तुझे भूला, तेरा नाम भी भूला अब किस मुख से कहूँ कि तू मेरा है, मेरा जीवन साथी है।

जिन्दगी गुजर रही थी साथी के अभाव में, जिन्दगी, जिन्दगी न भी जिन्दा दिली न थी, साथी के साथ को भूल, चक्कर लगा रहा था उन साथियों के साथ जिन्होंने कभी गाढ़े समय साथ न दिया। हाथ न बढ़ाया, हाथ सफा करते, तथा हाथ रंगते कभी पकड़े न गए क्योंकि उनकी वाक् चातुरी पर ही विश्वास कर, दिन बिता रहा था उनका अविश्वास ऐसा घातक सिद्ध हुआ कि किसी का विश्वास करते भय होता था। विश्वास के अभाव में यह विश्व विषवत् प्रतीत होता था। जहाँ रहना वहाँ के निवासियों का विश्वास न करना भी कष्ट कर था। विश्वास करता अधिकांश अवस्था में धोखा ही खाना पड़ता। प्रभु से बार-बार प्रार्थना करता कोई साथी मिले जो मेरे दिल की बात सुने और अपने दिल की बात सुनाये।

अनजान में अनेक ऐसे कार्य भी हुए जिन्हें लोग साधन कहते हैं। जिस धन की खोज में लगा था अब तक वह धन (वह साथी) न मिला था।

शुभ, अशुभ कर्मों का फल होता है ऐसी सर्वसाधारण की मान्यता है। मान्यता को मानकर चलना ही पड़ता है। यह मान्यता भी एक प्रकार का विश्वास ही तो है। कभी-कभी विश्वास के अनुसार कुछ साथी भी मिले किन्तु भ्रमित गृहत्यागी। विद्या, जिसे साथी (तथाकथित महात्मा) आत्म विद्या कहते थे बड़े अभिमान के साथ कुछ संस्कृत भाषा के श्लोक पठन कर अन्य जनों को मूर्ख बनाते थे।

कुछ क्रियाओं का प्रदर्शन करने वाले भी देखे किन्तु उन्हें साथी कैसे कहा जाये। यों तो जिस विश्व में प्राणी रहते हैं, सभी साथी हैं। विश्व पर रहनेवाला तथा पेड़, पौधे, पहाड़, नद, नदी, समुद्र सभी मनुष्य के साथी हैं क्योंकि सभी उसी विश्व पर रहते तथा उससे उपकृत होते। यह कार्य साथ ही होता है। वायु प्राणदातृ, एक ही साथ हम सबको प्राणों में गति प्रदान करती है।

जहाँ हृदय की गति परिलक्षित होती है श्वास प्रश्वास के रूप में मनुष्य उसे चेतन कहता आया किन्तु जहाँ यह गति दिखलाई नहीं देती उसे जड़ कहा। किन्तु यह स्थिति तो ऊपरी है। प्राण सुप्त स्थिति में जड़ कहलाये। यदि इनमें प्राण न होते तो ये घटते-बढ़ते कैसे ? सब में गति, सब में प्राण किन्तु एक से रूप में दिखलाई नहीं देते।

जिन मनुष्यों को या पशुओं को हम साथी कहते हैं उनके गुण तथा अवगुणों से भी हम पूर्ण जानकारी नहीं रखते फिर भी वे हमारे साथी हैं। जीवन में ऐसे व्यक्ति भी मिलते हैं जिनके भाव-विचार भिन्न रहते हैं, उनका परित्याग भी आसानी से नहीं हो सकता। वे अपने विपरीत कार्यों द्वारा हमें



कष्ट पहुँचाते तथा हम उन्हें किन्तु इन सब को भी हम साथी कहेंगे। साथ में रहे फिर भी साथी नहीं। जीवन यात्रा दुःखदाई बन गई। साथी की खोज में मनुष्य लगा रहा। परिवार के लोग ऐसे मनुष्य को पागल, मूर्ख, अभिमानी, महाअज्ञानी समझते हैं जो उन्हें अपना साथी नहीं समझता। किन्तु वह क्या करे वह तो ऐसे साथी की खोज में लगा है जो उसके भाव-विचार को समझता हुआ उसका जीवन साथी ही नहीं, अनन्त में समाहित होने का साथी हो।

साथी की प्राप्ति के लिये अनेक साधन करता है , काया कष्ट उठाता है, निद्राहीन रात्रि व्यतीत करता है। प्रभात के साथ-साथ कार्य में लग जाता है। प्राणों की आकुलता में तनिक भी अन्तर नहीं। मेरी अन्तरात्मा के साथी कहाँ हो, मुझे तुम्हारे साथ की केवल आवश्यकता ही नहीं, ये प्राण अधिक समय तक रह न सकेंगे यदि तुम साथ न दोगे प्रत्यक्ष रूप में।

भक्तों ने भगवान नहीं खोजा प्रियतम साथी खोजा जिसकी अनुभूति के अभाव में जीवन, जीवन न था, था केवल श्वास, प्रश्वास का चेतन यंत्र, जहाँ यंत्रणा थी साथी के अभाव की। परिवार के प्राणी उसे क्या कष्ट देंगे क्योंकि वह जानता है कि इनके स्वार्थ में बाधा पड़ने की आशंका है अतः वे उसे कष्ट देकर साथी बने रहने के लिये बाध्य कर रहे हैं। बाध्य क्या उसका वध भी कर दे तो वह इस मतलबी पारिवारिक लोगों को अपना प्रियतम साथी कैसे माने, कैसे समझे ? कष्ट देते-देते जब ये (पारिवारिक लोग) उस व्यक्ति को नियंत्रित नहीं कर पाते तो प्यार का जाल भी बिछाते हैं किन्तु उनकी यह चेष्टा भी बेकार हो जाती है।

वह उस प्रियतम साथी को खोज रहा है जिसके दर्शन मात्र से तम (अन्धकार) दूर, मम (मेरा साथी) अति समीप का भाव स्वतः जाग्रत होता तथा प्रिय प्राणों में बस, कहता है -बस कर, बहुत तड़फता रहा, व्याकुल होता रहा, प्रेमाश्रु मुझ से देखे नहीं जाते। हम तुम एक-जियेंगे साथ-साथ, आनन्द जीवन की गति-विधि का भाव देंगे साथ। लोग गुरु और शिष्य कहेंगे किन्तु हम हैं साथी। सहज भाव के साथी, आनन्द वर्षण के साथी, प्रभु पद प्रेम प्रसार के साथी। शरीर के ही नहीं, अशरीर के साथी। अशरीर के साथी अतः शरीर पात होने पर भी साथी ही बने रहेंगे।

मेरे साथी ! एक दिन ऐसा ही सुप्रभात उदय हुआ, तेरा साथ हुआ, मैं अनाथ से सनाथ हुआ। शरीर जगन्नाथ का था, शरीर को धारण करने वाली बासन्ती थी किन्तु जीवन का साथी, प्राणों का साथी देव था और देव है, जिसे लोग बलदेव कहते थे किन्तु उसके बल से परिचित न थे या होना न चाहते थे। वे चाहते थे पुत्र, कलत्र, धन-जन, किन्तु जीवन साथी बनाने की भूल न करते थे। दिगम्बर विचारों से होना आसान नहीं। शरीर के दिगम्बरों की फौज देखी धार्मिक मेलों में किन्तु विचारों से यदि होते दिगम्बर तो फौज शायद ही देखने को मिलती। कबीर की वाणी यथार्थ है -  
 “लालो की नहीं बोरियाँ, तथा साधु (दिगम्बर) न चले जमात।”

मेरे साथियों की कमी न थी और न है। श्वास, प्रश्वास मेरा साथी, आत्मा परमात्मा मेरे साथी। कुछ ऐसे भी साथी हैं जिन्हें मुझसे काम था और अब भी काम है। शायद शरीर पात होने पर भी मेरे साथ रहें ये भाव के साथी हैं। भाव मेरा स्वभाव और भाव का चाव इनका स्वभाव। स्वभाव में भाव ऐसा मिल गया कि यह कहना कठिन हो गया कि यह भाव है या

स्वभाव। भाव के प्रेमी शरीर की अपेक्षा नहीं रखते। भगवान कृष्ण का शरीर नहीं किन्तु उनकी भावमयी वाणी गूँज रही है भावुक के हृदय में जिस वाणी का विद्वानों ने तीन भागों में विभाजित किया - कर्म, भक्ति, ज्ञान के रूप में। इन तीनों (कर्म, भक्ति, ज्ञान) के प्राण भाव है। भाव नहीं तो भव में आना और जाना समान। निरर्थक कहना उचित नहीं।

प्राणी ने प्राणों की रक्षा के लिये युद्ध किये सन्धि की किन्तु शान्ति फिर भी न थी। क्यों ? शान्ति का भाव न था, विवशता का नाम शान्ति नहीं। युद्ध करते-करते प्राणी थक चला अब थकावट मिटाने के लिये वह शान्ति चाहता है। क्या वह शान्ति है - नहीं। सांसारिक युद्ध तो यदाकदा होते हैं किन्तु मानसिक युद्ध तो प्रतिदिन होता रहता है। गृहस्थी के परिवार में दो प्राणी हों या चार, आचार विचार न मिलने के कारण मानसिक युद्ध जिसे अशान्ति कहना उचित होगा, होता ही रहता है। ये भी साथी हैं एक दूसरे के किन्तु कैसे साथी हैं यह समझा जा सकता है।

मेरे साथी ऐसे भी थे जिन्होंने परिवार तथा परमार्थ मार्ग में भी साथ रहते हुए कष्ट, मानसिक कष्ट पहुँचाने में कमी न रखी किन्तु मेरा भाग्य विधाता साथी ज्ञात, अज्ञात से मुझे सदा शान्ति देता रहा। आनन्द की चर्चा के लिये भी मेरे साथी ने कुछ नवीन साथी दिये जिसे सत्संगी कहना ही ठीक होगा। मेरा साथी प्रेरणा देता रहा अज्ञात से तथा इन सत्संगी साथियों के कष्ट निवारण करता रहा शारीरिक, आर्थिक, मानसिक। बड़े चुतर थे ये सत्संगी। भौतिक लाभ को ही प्रधानता देते हुये कार्य सिद्ध होने के पश्चात् अदृश्य हो जाते थे शरीर से। उनका स्थान अन्य सत्संगी कहलाने वाले व्यक्ति ग्रहण करते तथा ये भी काम बना कर

चलते बने। इन्हें भी साथी ही कहना होगा। खूब साथ निभाया जिन्हें भाव न भाया, काम बनाया और कभी-कभी तो निन्दा स्तुति का भी खेल दिखाते। मेरा जीवन साथी मुझे सदा धैर्य बँधाता रहा और कहता यह कोई नवीन कार्य नहीं मुझे भी इस प्रकार के प्राणी सदा कष्ट पहुँचाने की चेष्टा करते रहे।

प्रभु कृपा से उपकृत होते हुए भी ये (सत्संगी) गालियाँ देते रहे इस शरीर को। कृत किया किसी ने उपकृत हुआ कोई फिर विचार न तुझे करना है और न मुझे। साथियों की निन्दा स्तुति करना यह किसी भी साधक का कार्य नहीं। जीवन साथी जैसे मिले उनका उल्लेख मात्र किया गया है। उल्लेखकर्ता में भी गुण अवगुण होते हैं। अपने को निर्दोष कहना तथा दूसरे को अपराधी ठहराना भी उचित नहीं। काल और कार्य की गति विचित्र है। अनेक सन्त साधु आये और चले गये साधना करके ऐसे भी लोगों की उनके जीवन काल में निन्दा स्तुति हुई। अतः अब अन्य साथियों की बातें भी कहनी हैं।

प्राणों का साथी केवल तीन वर्ष तक अपने भावों तथा उद्गारों से उपकृत करता हुआ तिरोहित हो गया और दे गया अपने प्राणों की अनुभूति। सच्चा साथी मिला वह भी चल बसा। चला गया शरीर से और बस गया प्राणों में। प्राणों में बसा प्राण साथी अब अधिक प्रेरणा देता रहा। प्राणों में आकुलता थी लोग मेरे प्राणों के साथी को पहचान न पाये। प्रथम वार्षिक स्मृति का दिवस आया और समाधि मन्दिर के दर्शन कर टूटी-फूटी भाषा में श्रद्धाञ्जलि अर्पित की जिसे लोग भाषण कहते थे। न थे विशेष भाव और न सुललित भाषा किन्तु कहलाया भाषण। प्रथम मेले से लौट कर

रविवार को एक सत्संग में जाना प्रारम्भ किया। रविवार अवकाश का दिन होता था। एक विशिष्ट ग्रन्थ की तीन चार पक्तियाँ पढ़ घण्टा, पौन घण्टा उस ग्रन्थ विशेष की बातें कहता। साथी की, प्राणों के साथी की अनुकम्पा का अनुभव हुआ उसी स्थान पर।

वह व्यक्ति जो स्त्री मात्र की परछाई से घबड़ाता था वह उस साथी की कृपा के कारण निर्भीक हो बोलने लगा उन सत्संगी महिलाओं के बीच, जो अपने को ब्रह्मज्ञानी कहती थीं। कुछ साधु भी मिले उस सत्संग के अखाड़े में जो मेरी कही हुई बात का खण्डन सप्ताह में छः दिन करते थे किन्तु उसी सत्संग में एक ऐसी महिला भी देखने में आई जिसे अटपटे बैन अच्छे लगे और एक अन्य स्थान पर सत्संग प्रारम्भ हुआ।

श्रोताओं की संख्या बढ़ी किन्तु यहाँ भी एक विशेष अखाड़े वाली ही आती थीं। जाता था अपने दिल के उद्गार प्रकट करने और मिलती थी दल विशेष की महिलायें। बातें शायद उन्हें अच्छी लगती हों किन्तु दल के मुखिया के डाँटने के कारण उनकी उपस्थिति कम होने लगी। ये भी तो साथी ही थे। सत्संग के स्थान बदलते गये किन्तु सत्संगी कहलाने वालों के दिल बदले कि नहीं यह कहना कठिन है।

प्रधानता के पुजारियों को देखा, सत्य के उपासक उनमें कम थे। यों तो उनमें से कुछ ने सत्य को समझने अर्थात् हृदयंगम की अभिलाषा भी रखी। कुछ लिख कर अपने भाव व्यक्त करने में समर्थ हो सकीं किन्तु निराभिमानी प्राणों के साथी के चरणों की रज जब तक न बन सकी तब तक भावुक साथी को इन कार्यकलापों से पूर्ण सन्तोष नहीं।

मेरे प्राणों के साथी ! तेरी अहैतुक कृपा को कैसे व्यक्त करूँ। युग बीत गये तेरी बातें कहते आज भी उऋण न हो पाया तेरी कृपा के ऋण से। वह कृच्छ साधना क्या काम आती यदि तेरा साथ न मिलता। अनेक जन्मों की साध मिटाई तैने तेरे सम्पर्क से। क्यों इतना प्यार दिया कि आज भी भूल न पाया तेरे प्यार को। तेरी कही हुई बात मेरे लिये अमर हो गई। तूने एक बार कहा था - मैंने तेरे हृदय को ऐसा स्पर्श किया है कि तू मुझे भूल न पायेगा जीवन काल में। तेरी वाणी, विशेष कर यह वाणी प्राणों का आधार है।

मेरे प्राणों के साथी गुरु पुकार कर तुम्हें सम्बोधित करूँ यह मेरी अल्पज्ञता होगी। तू मेरी रूह है। समझने की कोशिश करता रहा तुम्हारे प्यार तथा उपकार को। उपकार को समझा जा सकता है किन्तु प्यार को समझा नहीं जा सकता। प्यार का बदला प्यार हुआ करता है। वायु बहती रहती जन्म होते रहते किन्तु हे मेरे प्राणों के साथी तू न मिलता तो जीवन में आनन्द स्रोत कैसे प्रवाहित होता, कैसे आनन्द आनन्द कहता तेरा तुच्छ साथी भव में भाव की धारा प्रवाहित करने का प्रयास करता ?

तेरी ही आस, तेरी ही प्यास है, तेरा ही हास विलास है, यह तो प्रवास है, वास निवास तो तेरे चरणों में, तेरे साथ में है। शरीर ठहरा हुआ है तेरे भाव प्रसार के लिये न कि आमोद, प्रमोद के लिए। साथी देश में अपने स्वदेश में यह तुच्छ साथी उपदेश में। यह उपदेश नहीं देता यह तो तेरे बतलाये हुए सरल जीवन की बातें कहता तेरे समीप आने का इच्छुक।

अधिक जीवन अवधि, अधिक कार्य। कार्य यदि तेरी कृपा से शीघ्र ही सिद्ध हो जाये तो अब अवधि की आवश्यकता। प्रेरक तू कार्य पूर्ण कर्ता

तू। यहाँ तो निमित्त मात्र हैं जिसका मीत तू, जिसकी प्रीति स्मरण कर दिन व्यतीत हो रहे हैं।

साथी तू ने तत्त्व समझाया “तत् त्वम् असि” के रूप में किन्तु तेरे अन्य भक्तों ने अहंकार को ही प्रधानता दी अतः तेरे प्रेम और भाव का मार्ग ही अपना उचित समझा। भाव की मूर्ति तू है और भाव का उपासक तेरा तुच्छ साथी। अहंकार की निवृत्ति का सरल मार्ग शरणागति। प्रथम शरणागति अपने साथी की तथा साथी ही शरणागत को हृदय से लगा प्रेम का पथ दर्शाता हुआ, सत्य स्वरूप में अपने सूक्ष्म अहं को ऐसा मिला देता है कि साथी सत्य की अनुभूति पाकर सत्य में ही स्थित हो जाता है। “वह तू है” अवश्य किन्तु मानसिक बाधाओं का निवारण होता है शरणागति से और शरणागति वह बीज है जिसमें प्रेम रूपी फल स्वतः प्रस्फुटित होता है।

मार्ग में यदि भिन्नता प्रतीत हो तो साथी क्षमा करना। तुमने जिस लक्ष्य की ओर संकेत किया था लक्ष्य वही है किन्तु अहंकार का खेल बड़ा अनोखा है। तुमने जिनको आत्मबोध की भावना दी थी वे आज तेरे बतलाये हुए मार्ग से पृथक ही चल रहे हैं। मेरे कहने की आवश्यकता तो नहीं किन्तु आज उनको गुमराह देखकर कुछ कहना ही पड़ा। चला जा रहा है शरीर और चला आ रहा है सूक्ष्म मन तेरे समीप। अब साथी प्राणों के साथी की पुकार क्रमशः तीव्र होती जा रही है अपने सामीप्य के लिये। तेरे लिये कुछ कह न सका यद्यपि रो-रो कर तेरी बातें सुनाई गईं। इनका प्रभाव इन श्रोताओं पर पड़ेगा तेरी ही कृपा के बल पर।

मेरे प्राणों के साथी ! किन शब्दों में तुझे पुकारूँ, शब्द नहीं हैं। तू अन्तिम समय तक मौन रहा। मुझे भी मौन रहने की प्रेरणा दे। शायद यह मौन प्रेरणा ही अधिक कार्य करे। बोलते बोलते थक चला अब तो अन्तिम कार्य मौन रहने पर ही हो सकेगा। मेरे प्राणों के साथी अब लेखनी से विदा । लेखनी का अन्तिम पुष्प आनन्द पुष्प अर्पित है तेरे कोमल चरणों पर।

क्षमा करना अपना तुच्छ साथी समझ कर, तेरे भावों का प्रसार न बन पड़ा तेरे साथी से जो गृह-गृह में जन-जन में भावों के समुद्र की तरंगों में आनन्द ध्वनि का उत्कट अभिलाषी था। क्षमा करना और इस आनन्द पुष्प को अपने हृदय पर लगा कर नहीं हृदय में स्थान देकर आनन्द की सदा वृष्टि करते रहना इस नम्र साथी की बात पर ध्यान दे जीवन के अन्तिम क्षणों तक इसकी ओर ध्यान रखना।

साथी वही जो साथ दे इहलोक परलोक में यदि कोई पर हो, लोक हो। आनन्द पुष्प अर्पित-लेखनी का पूर्ण विश्राम।

